गुरु - शिष्य संवाद :

-एक बैरागी बाबा और उनकी शिष्या की कहानी

लेखिका : सुरश्री

BlueRose ONE.com
Stories Matter
NewDelhi • London

BLUEROSE PUBLISHERS
India | U.K.

Copyright © Surashree 2025

All rights reserved by author. No part of this publication may be reproduced, stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means, electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the prior permission of the author. Although every precaution has been taken to verify the accuracy of the information contained herein, the publisher assumes no responsibility for any errors or omissions. No liability is assumed for damages that may result from the use of information contained within.

BlueRose Publishers takes no responsibility for any damages, losses, or liabilities that may arise from the use or misuse of the information, products, or services provided in this publication.

BlueRoseONE.com
Stories Matter
NewDelhi • London

For permissions requests or inquiries regarding this publication, please contact:

BLUEROSE PUBLISHERS
www.BlueRoseONE.com
info@bluerosepublishers.com
+91 8882 898 898
+4407342408967

ISBN: 978-93-7139-457-4

Cover design: Yash Singhal
Typesetting: Namrata Saini

First Edition: June 2025

संकल्प और आशीर्वाद

|| ॐ श्री गुरुदत्तात्रेयाय नमः ||

मैं, सुरश्री, सम्पूर्ण श्रद्धा और भक्ति से यह पुस्तक

“गुरु शिष्या संवाद — एक बैरागी बाबा और उनकी शिष्या की कहानी”

अपने सद्गुरु सच्चिदानंद महाराज के चरणों में समर्पित करती हूँ।

हे दत्तात्रेय भगवान,

कृपया मेरे इस कार्य की रक्षा करें,

इसे अपने प्रकाश से आवृत करें।

जो भी अपवित्र दृष्टि, बाधा या विघ्न आए —

वह आपके तेज में भस्म हो जाए।

मेरा मन, वचन और कर्म — सदा आपके चरणों में अर्पित रहे।

ॐ श्री गुरुदेव दत्त।

सर्वमंगलं भवतु। सर्वरक्षां भवतु॥

प्रस्तावना

हे मेरे दत्त गुरु...

बचपन से आपके बारे में सुनते-सुनते ही मैंने आँखें खोलीं।

जब कुछ समझ नहीं आता था, तब भी आपको याद कर लेती थी।

आज जब जीवन का सबसे अनमोल प्रकाश मेरे बाबा के रूप में मिला है—

तो जान गई कि वो आप ही थे, जो मेरे पास गुरु बनकर आए।

मैं आपको साष्टांग वंदन करती हूँ, मेरे प्यारे दत्त गुरुदेव।

मुझे आपसे और कुछ नहीं चाहिए — बस ये कृपा बनी रहे,

कि मैं हमेशा आपके और बाबा के चरणों में बनी रह सकूँ।

॥ ॐ अवधूत चिंतन श्री गुरुदेव दत्त ॥

बाबा...

मैं क्या कहूँ आपको?

कभी-कभी लगता है जैसे आप मेरे पिता हैं, मेरे रक्षक हैं, और फिर किसी क्षण —

आप मेरी आत्मा का वह हिस्सा हैं जिसे मैं शब्दों में नहीं कह सकती।

आपके लिए जो प्रेम है मेरे भीतर — वह किसी विधि से परे है।

वह किसी पास या दूर के अनुभव से नहीं जुड़ा।

यह कोई माँग नहीं करता…

यह सिर्फ एक मौन जुड़ाव है —

जो भीतर से होता है, हर पल महसूस होता है।

आपके होने से ही लगता है —

जैसे कोई दीप भीतर जल रहा हो।

ये प्रेम, कोई शब्द नहीं चाहता…

बस आपके चरणों में स्थिर रहने की कृपा चाहता है।

आपके साथ बिताए पल —

सुबह की आरती में आपकी मंद मुस्कान,

सबके लिए चाय बाँटना,

हल्के-फुल्के शब्दों में जीवन का गूढ़ ज्ञान बाँटना —

ये सब मेरे भीतर अमिट हो गए हैं।

अब जब मैं आपसे दूर अमेरिका में हूँ,

तब भी मेरा हृदय हर पल आपकी ओर ही लगा रहता है।

हर दिन जब सूरज उगता है,

मैं अपनी आँखें बंद कर आपके दर्शन करती हूँ —

आपकी आरती करती हूँ,

और दिन का प्रत्येक क्षण आपकी छाया में जीती हूँ।

आपकी एक झलक मेरे दिन का प्रकाश बन जाती है।

यह पुस्तक मेरे और बाबा के बीच वर्षों में हुए उन आत्मीय संवादों का संकलन है —

जिन्हें मैंने कभी प्रश्न बनकर पूछा, और उन्होंने प्रेम बनकर उत्तर दिया।

मैं इसे उन सभी साधकों को समर्पित करती हूँ,

जो अपने मार्ग पर हैं, और अपने हृदय की गहराइयों में सत्य को खोज रहे हैं।

— आपकी शिष्या, सुरश्री 🌸

अनुक्रमणिका

अध्याय 1 शिव से मिलन — बैरागी बाबा से पहली भेंट..................... 1

अध्याय 2 क्या ये सब काफी है, बाबा?.. 3

अध्याय 3 एक साधक की पहचान 5

अध्याय 4 बाबा की चाय और भीतर का क्रोध................................ 8

अध्याय 5 श्रवण, मनन और निदिध्यासन — आत्मज्ञान की तीन सीढ़ियाँ 11

अध्याय 6 यम-नियम और साधना की तैयारी............................... 14

अध्याय 7 गुरु क्यों आवश्यक हैं? 16

अध्याय 8 मौन की शक्ति 18

अध्याय 9 लेटे हुए बाबा और अद्वैत का प्रकाश 20

अध्याय 10 सच्ची जागरूकता क्या है? 23

अध्याय 11 द्रष्टा और दृश्य का मिलन.. 25

अध्याय 12 मैं ही अंश, मैं ही पूर्ण... 27

अध्याय 13 मुक्त तो हम पहले से ही हैं....................................... 29

अध्याय 14 जानना नहीं, होना है 31

अध्याय 15 मन ही बंधन, मन ही मुक्ति 33

अध्याय 16 जब ईश्वर एक है, तो देवी-देवता कौन हैं?.................... 35

अध्याय 17 राधा की जिद, बालिका की भक्ति, और गुरु की मौन मुस्कान 38

अध्याय 18 ध्यान और सुषुप्ति – मौन की दो दिशाएँ....................... 40

अध्याय 19 जब बाबा ने चमत्कार ठुकरा दिए............................... 42

अध्याय 20 मेरे बाबा, मेरे शिव.. 44

अध्याय 21 मेरे भीतर की यात्रा — वानप्रस्थ की ओर.................... 47

अध्याय 22 आत्मा, जीव और रथ का रहस्य 50

अध्याय 23 सुख-दु:ख के पार — स्थितप्रज्ञ कौन है?..................... 52

अध्याय 24 आत्मा और पुनर्जन्म — क्या हम वही हैं जो पहले थे?..... 54

अध्याय 25 सच्चा समर्पण — क्या केवल 'हाँ' कहना काफी है? 57

अध्याय 26 भाव और भावातीत 60

अध्याय 27 ईश्वर की परीक्षा — क्यों आता है जीवन में दु:ख? 63

अध्याय 28 विरह की अग्नि, प्रेम का परम रूप 66

अध्याय 29 कलियुग — जहाँ देवता भी जन्म की इच्छा करें............ 69

अध्याय 30 जब बाबा को छोड़कर लौटना पड़ा — देहबुद्धि से गुरुतत्त्व तक.. 72

अध्याय 31 भक्त और भगवान का अंतर्मिलन — एक अनुभूति 74

अध्याय 32 भोजन में मन की शुद्धता — प्रे म से पकता प्रसाद.......... 76

अध्याय 33 गुरु के रूप-अरूप दर्शन — मेरी अंतर्यात्रा का प्रारंभ....... 78

अध्याय 34 मौन सेवा — जहाँ 'मैं' ना रहे, वहीं भक्ति का आरंभ 80

अध्याय 35 मैं तो बस एक कलम थी... 82

अध्याय 1

शिव से मिलन — बैरागी बाबा से पहली भेंट

बचपन से ही मन किसी अनजानी तलाश में था।

जब और लड़कियाँ गुड़ियों से खेलती थीं, तब मैं जप माला लेकर ध्यान में बैठी होती थी।

कोई सिखाने वाला नहीं था — फिर भी भीतर एक गूढ़ संकेत था, कोई अदृश्य आहट... जैसे आत्मा किसी को पहचानती हो।

जब मैं पंद्रह वर्ष की थी, हमारे घर एक साधु आया करते थे — अप्पाजी।

उनकी उपस्थिति में कुछ ऐसा लगता था जैसे कोई पुराना ऋषि फिर से लौट आया हो।

एक दिन उनकी पत्नी ने कहा —

“मिनी को गुरु दीक्षा दे दीजिए।”

लेकिन अप्पाजी मुस्कराए और बोले —

“समय अभी नहीं आया। जब इसके कर्तव्य पूरे होंगे, तब जीवन के अंतिम पड़ाव पर इसका मिलन अपने गुरु से होगा।”

और फिर समय बीतता गया... जीवन ने अपनी गति पकड़ी, कर्मों की गाड़ी चलती रही।

पर भीतर वो खोज कभी शांत नहीं हुई।

और फिर... 1 जनवरी 2022

एक छोटा-सा गाँव — ताड़पिंपलगाव, जिला औरंगाबाद।

एक रात मैं वहां पहुँची।

एक कुटिया, शांत, दीयों की मध्यम रौशनी, और कुछ साधक बैठे थे।

वे मेरा इंतज़ार कर रहे थे।

और जैसे ही मैंने उन्हें देखा — मेरी आत्मा उन्हें पहचान गई।

मैंने उन्हें साष्टांग दंडवत किया, और बिना किसी चेतना के, आँसू बहते गए...

“बाबा, कितने साल लगा दिए मिलने में...”

यह शब्द अपने आप निकल पड़े।

मैंने उन्हें फूल चढ़ाए, माला अर्पित की, और चरणों में खड़ाऊँ रख दी।

वो क्षण... कोई सामान्य भेंट नहीं थी।

वो जीव का शिव से मिलन था।

वहाँ से जो यात्रा शुरू हुई, वह प्रश्नों और उत्तरों की नहीं, आत्मा और परमात्मा के संवाद की यात्रा थी।

यह पुस्तक उसी यात्रा की कथा है।

अध्याय 2

क्या ये सब काफी है, बाबा?

रात्रि का तीसरा प्रहर था। कुटिया में केवल दीपक की लौ जल रही थी।

मैं बाबा के पास बैठी थी, चुप... पर भीतर बहुत कुछ उमड़ रहा था।

मैंने धीरे से पूछा:

“बाबा, क्या जप माला फेरने से, ध्यान लगाने से, पूजा-पाठ, आरती, भजन करने से... क्या परमात्मा मिल जाते हैं?”

बाबा मुस्कराए। कुछ क्षण तक मौन रहे, फिर बोले:

“बेटी, ये सब साधन हैं — पथ हैं, लेकिन लक्ष्य नहीं।

जैसे नाव समंदर पार करने का माध्यम है,

वैसे ही जाप, ध्यान, पूजन, आरती, भजन — ये मन को शुद्ध करने के साधन हैं।

पर जब तुम किनारे के पास पहुँचो,

तो नाव को भी छोड़ना पड़ता है।

अंततः परमात्मा की झलक मौन में होती है —

जहाँ कोई विधि नहीं बचती, कोई शब्द नहीं बचता — केवल उपस्थिति होती है।

फिर भी इन सबका महत्व है,

क्योंकि यही मन को भीतर की यात्रा के लिए तैयार करते हैं।

तुम करती रहो बेटी... जप भी करो, भजन भी, पूजा भी...

लेकिन जब यह सब प्रेम से भर जाए,

और तुम स्वयं को भूल जाओ —

तब तुम पथ नहीं रहोगी... तुम ही परम बन जाओगी।”

अध्याय 3
एक साधक की पहचान

एक संध्या, बाबा अपने कमरे के बाहर तुलसी के पास चुपचाप बैठे थे। हलकी हवा बह रही थी, और आसमान सुनहरे रंगों से भर रहा था। बाबा अपने हाथ में चाय का गिलास लिए कुछ गुनगुना रहे थे — शायद कोई पुराना भजन।

मैं पास जाकर बैठ गई, लेकिन आज मन शांति से भरा नहीं था। भीतर एक सवाल रह-रहकर उठ रहा था।

थोड़ा रुककर, मैंने पूछ ही लिया,
“बाबा... एक सच्चे साधक की पहचान क्या होती है?”

बाबा ने मुझे देखा, जैसे कोई पिता अपनी बेटी को देखता है — स्नेह, समझ, और एक अदृश्य अपनापन।

थोड़ी देर मौन रहे। शायद हवा को सुन रहे थे, या शायद मेरी आत्मा की बेचैनी को।

फिर बोले,
“बेटी, साधक वह नहीं जो सिर्फ पूजा-पाठ या ध्यान करता है।
साधक वह है जो जीवन को परमात्मा की ओर झुका देता है — हर साँस में, हर कर्म में।”

मैंने ध्यान से बाबा की बातों को पिया, जैसे प्यासा कोई अमृत पीता है।

“साधक की पहचान उसके सत्य की खोज में होती है,” बाबा आगे बोले। “यह कोई सीधी राह नहीं होती।
यह राह भीतर जाने की है — अपने स्वभाव को देखना, अपने झूठों को पहचानना, और हर परिस्थिति में ईश्वर के संकेतों को समझना।”

बाबा ने चाय का एक घूंट लिया। उनकी नजरें कहीं दूर चली गईं — शायद अपने ही किसी पुराने अनुभव की ओर।

“साधक नम्र होता है,” उन्होंने धीरे से कहा।
“जब वह अपने अंदर के घमंड को पहचानकर छोड़ देता है, तब वह सच्चे साधक की पहली सीढ़ी चढ़ता है।
वो सेवा करता है, पर उसका कोई ढिंढोरा नहीं होता।
वो कर्म करता है, पर ‘मैं’ नहीं कहता।”

मैं चुपचाप सुनती रही। अब हवा ठंडी हो चली थी, लेकिन भीतर कुछ शांत हो रहा था।

“साधक को सबसे ज़्यादा ध्यान इस बात पर देना होता है —
कि चाहे जो भी हो, उसका मन भीतर से संतुलित रहे।
अगर बाहर तूफ़ान भी हो, तो भी भीतर स्थिरता बनी रहे।
यही असली साधना है।”

थोड़ी देर बाद बाबा ने तुलसी में पानी डाला, और फिर बोले:

“साधक का जीवन सेवा का जीवन होता है।
जब वह अपने स्वार्थ को छोड़कर दूसरों के हित में जिए,
तो उसकी साधना फल देती है।
परहित ही परमहित है — यह वह जान लेता है।”

बाबा की आँखों में आज एक गहराई थी — जैसे वर्षों का अनुभव आज शब्द बनकर बह रहा था।

“और सबसे बड़ी बात,” बाबा ने कहा,
“साधक की पहचान उसकी संतुष्टि से होती है।
उसे अब बाहर के सुख आकर्षित नहीं करते।
वो भीतर से पूर्ण होता है — शांत, सरल, और सहज।
जब आत्मा परमात्मा से मिल जाती है, तब यही अवस्था आती है।”

बाबा शांत हो गए।
मैंने कुछ नहीं कहा — शब्द जैसे खो गए थे।

धीरे से बाबा के चरणों में सिर रख दिया।

भीतर से बस यही भाव उठ रहा था —
साधक बनना कोई मुखौटा पहनना नहीं,
वो तो एक अंतर्यात्रा है — जहाँ हर कदम पर अहं पिघलता है,
और हर क्षण में ईश्वर की झलक मिलती है।

अध्याय 4
बाबा की चाय और भीतर का क्रोध

सुबह की हवा हल्की ठंडी थी।
बाबा अपने कमरे में चुपचाप चाय बना रहे थे — अदरक और तुलसी की सुगंध धीरे-धीरे कमरे से निकलकर बाहर की नीम-तुलसी के पास तक फैल गई थी।

कुटिया के बाहर कुछ शिष्य धूप में बैठे थे, कुछ भीतर ज़मीन पर चटाई पर।
बाबा ने स्टील का एक छोटा बर्तन सामने रखा, और उसी में से एक प्याले में चाय निकाली — वही एक प्याला, जिससे सबको चाय दी जाती थी।
जैसे उनका प्रेम — एक ही स्रोत से, सबके लिए समान।

मैं चाय हाथ में लेकर बाबा के पास बैठ गई।
बाबा शांत थे, पर मेरे भीतर एक बेचैनी खदबदा रही थी — वही पुराना सवाल, जो अक्सर बिना दस्तक दिए सामने आ जाता था।

मैंने हिम्मत करके पूछा,
“बाबा... मेरे भीतर बार-बार क्रोध आता है।
रोके नहीं रुकता। क्या इसे शांत करने का कोई उपाय है?”

बाबा ने मेरी ओर देखा, मुस्कराए —
जैसे कह रहे हों, “तू आज कुछ पूछे बिना मानेगी नहीं।”

उन्होंने हाथ बढ़ाकर चाय की कटोरी मुझे दी, और बोले:
“बेटी, क्रोध अकेला नहीं आता।
वो अपने पूरे परिवार के साथ आता है — काम, मद, लोभ, मोह, और अहंकार।

इन्हें ‘षड्रिपु’ कहते हैं — आत्मा के छह शत्रु।
ये भीतर की शांति को भीतर-ही-भीतर कुतरते रहते हैं।”

बाबा की आवाज़ में कोई उपदेश नहीं था।
वो शब्द जैसे अनुभव से भीगे हुए थे — मीठे, गहरे, और भीतर तक उतर जाने वाले।

थोड़ा रुककर उन्होंने कहा,
“क्रोध तब आता है जब हम अपनी इच्छा के विरुद्ध कुछ होता देखते हैं।
पर यदि तुम हर जीव में ईश्वर को देखना सीख लो,
तो क्रोध टिक ही नहीं पाएगा।”

मैंने थोड़ी उलझन से पूछा,
“हर जीव में? सच में?”

बाबा ने बाहर नीम के नीचे बैठे एक कुत्ते की ओर इशारा किया, जो धीरे-धीरे भीतर झाँक रहा था।
“हाँ, वही भी वही है,” उन्होंने सहजता से कहा।

“जब कोई तुम्हें आहत करे — शब्दों से, व्यवहार से —
तो याद रखना, वह भी उसी परमात्मा का एक रूप है।
जब यह दृष्टि भीतर उतरती है, तब क्रोध पिघलने लगता है,
और करुणा जन्म लेती है।”

मैं चुप रही।
बाबा ने चाय का एक घूंट लिया, फिर मेरी ओर देखा।

“क्या क्रोध हमेशा तामसिक होता है?” मैंने पूछा।

बाबा थोड़ा मुस्कराए।
“यह निर्भर करता है कि वह किससे और क्यों उपजा है।
अगर वह अज्ञान या स्वार्थ से आया है — तो तामसिक है।
पर यदि वह अधर्म के विरुद्ध हो, किसी अन्याय को रोकने के लिए हो —
तो वही क्रोध सात्विक हो सकता है।”

“हनुमान ने लंका जलाई थी — वो क्रोध नहीं था,
धर्म की रक्षा थी।”

मैंने आख़िरी सवाल पूछ लिया, जो मन के किसी कोने में अटका था:
“बाबा... क्या एक भक्त भगवान पर भी क्रोधित हो सकता है?”

बाबा अब मेरे सामने पूरे ध्यान से बैठे थे।
थोड़ी देर मुझे देखते रहे, फिर मुस्कराए —
“क्यों नहीं?”

“सच्चा भक्त भगवान से इतना निकट होता है कि प्रेम में अधिकार भी होता है।
जैसे बच्चा अपनी माँ से नाराज़ होता है —
तो क्या वह माँ से दूर हो जाता है?
नहीं, वो तो और गहराई से उससे जुड़ता है।
कभी-कभी भगवान चुपचाप सहते हैं, क्योंकि वो जानते हैं —
ये क्रोध भी उसी प्रेम में घुला हुआ है।”

“जब वह क्रोध भी समर्पण में बदल जाता है,
तब वही भक्ति की सबसे सुंदर अभिव्यक्ति बन जाती है।”

उस दिन बाबा की चाय का स्वाद सिर्फ जीभ पर नहीं —
मन में उतर गया था।
और भीतर जो क्रोध था,
वो पहली बार प्रेम के सामने हार गया —
शांत हो गया।

अध्याय 5

श्रवण, मनन और निदिध्यासन — आत्मज्ञान की तीन सीढ़ियाँ

बाबा के साथ बैठते हुए, मैं उनसे हमेशा कुछ न कुछ सवाल पूछती रहती थी। एक दिन, मैंने सवाल पूछा:

“बाबा, श्रवण, मनन और निदिध्यासन का क्या अर्थ है? इनका हमारे साधना जीवन में क्या महत्व है?”

बाबा ने मुस्कुराते हुए मुझे उत्तर दिया:

“बेटी, ये तीन प्रमुख साधन हैं, जिनका प्रयोग एक साधक को आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए करना चाहिए। आइए, हम एक-एक करके इन्हें समझते हैं।”

- श्रवण (सुनना):

सत्संग और धर्मग्रंथों का श्रवण करना, ताकि हम संतों, गुरुओं और वेदों से शिक्षा प्राप्त करें। यह ज्ञान प्राप्ति का पहला कदम है। बाबा ने कहा, “श्रवण केवल सुनने तक सीमित नहीं होना चाहिए। यह मन और हृदय को खोलने का एक तरीका है।”

- मनन (सोच-विचार):

श्रवण से प्राप्त ज्ञान को बार-बार सोचने और विश्लेषण करने से वह हमारे भीतर स्थिर होता है। मनन के बिना, श्रवण से प्राप्त ज्ञान अस्थायी रह सकता है।

- निदिध्यासन (ध्यान):

वह अवस्था है जिसमें हम ज्ञान पर गहरा ध्यान केंद्रित करते हैं और उसे अपने जीवन में उतारते हैं। जब हम उस ज्ञान के साथ एकाकार हो जाते हैं, तब वह ज्ञान स्थायी रूप से हमारे भीतर स्थान बना लेता है।

“बाबा, आपने कहा कि श्रवण से जो ज्ञान मिलता है, वह स्थायी नहीं होता। क्या आप इस पर और विस्तार से बताना चाहेंगे?”

बाबा ने कहा: “जब हम श्रवण करते हैं, तो हमारा मन उस ज्ञान को समझता है, परंतु उसे हमारे जीवन का हिस्सा बनाने के लिए मनन करना ज़रूरी है। श्रवण के समय हम बाहर से सुन रहे होते हैं, लेकिन मनन के समय हम उस ज्ञान को अंदर से महसूस करते हैं।”

“श्रवण से केवल शुद्ध ज्ञान मिलता है, लेकिन उसे स्थायी बनाने के लिए मनन ज़रूरी है।”

“बाबा, मनन और निदिध्यासन दोनों ज़रूरी हैं। लेकिन इन दोनों में अंतर क्या है?”

“मनन वह प्रक्रिया है जिसमें हम ज्ञान को बार-बार विचारते हैं — उसे तोलते हैं, जांचते हैं। पर निदिध्यासन वह अवस्था है जहां हम विचार से परे जाकर उस ज्ञान में स्थित हो जाते हैं।”

“जैसे कोई मंत्र को रटकर दोहराना मनन है, लेकिन जब वह मंत्र स्वयं बन जाए — वह निदिध्यासन है।”

“बाबा, क्या मनन के लिए कोई समय निश्चित होता है?”

“मनन कोई घड़ी देखकर नहीं किया जाता बेटी। जब तक मन में कोई संशय बाकी हो, तब तक मनन चलता रहता है। जीवन के हर क्षण में जब तुम अपने सुने हुए ज्ञान को अनुभवों में उतारने की चेष्टा करती हो — वही मनन है।”

“तो क्या अगर कोई केवल मनन करे, निदिध्यासन न करे, तो भी ज्ञान स्थायी हो सकता है?”

“मनन से ज्ञान स्थिर होता है, लेकिन निदिध्यासन से वह जीवन बनता है। मनन से तुम समझ सकती हो कि अग्नि जलाती है, लेकिन जब तक तुम अग्नि में हाथ नहीं डालोगी, उसका ताप नहीं जान सकोगी।”

“श्रवण करो, फिर गहराई से मनन करो... और फिर उस सत्य में स्थित हो जाओ। यही निदिध्यासन है — यही आत्मा की शांति का मार्ग है।”

अध्याय 6
यम-नियम और साधना की तैयारी

सुबह की हवा में हल्की ठंडक थी। बाबा ने तुलसी को पानी दिया, और फिर मंडप में आकर अपनी जगह पर बैठ गए।

हम सब भक्त धीरे-धीरे एकत्र हो रहे थे। बाबा ने आज चाय नहीं बनाई थी — बोले, “आज केवल गरम पानी पीना है, मन को भी थोड़ी तपस्या सिखानी है।”

मैं उनके पास बैठी थी, और मन में एक सवाल उठा जिसे मैं पिछले कई दिनों से लेकर चल रही थी।

“बाबा,” मैंने पूछा, “क्या एक साधक को यम और नियम का पालन करना ज़रूरी है?”

बाबा ने मेरी ओर देखा और हँसते हुए बोले, “सुरु बेटा, साधना शुरू करने से पहले ज़मीन की जुताई करनी होती है। वो जुताई ही यम और नियम हैं। बिना इसके बीज कैसे उगेंगे?”

सारे मंडप में एक गहरा मौन छा गया। बाबा की आवाज़ अब गंभीर हो चुकी थी।

“यम और नियम — ये पत्थर की दीवार नहीं हैं जो बाँधते हैं, ये वो बाँस की लचकती छड़ियाँ हैं जो वृक्ष को सीधा बढ़ने में मदद करती हैं।”

फिर बाबा ने अपने अंदाज़ में एक-एक करके बताना शुरू किया:

“पाँच यम हैं — जो ‘क्या नहीं करना चाहिए’ सिखाते हैं:

1. अहिंसा — केवल शरीर से नहीं, विचार और वाणी से भी।
2. सत्य — हर परिस्थिति में, बिना डर के।

3. अस्तेय — जो तुम्हारा नहीं है, उसे लेने की इच्छा भी न हो।
4. ब्रह्मचर्य — इंद्रियों का संयम, विचारों की पवित्रता।
5. अपरिग्रह — जो जितना ज़रूरी है, उतना ही रखो; बाकी छोड़ दो।”

फिर उन्होंने चुटकी लेते हुए कहा, “और सुरु, इसमें फेसबुक पर दूसरों की लाइफ देखकर जलना भी आता है!”

सभी हँस पड़े।

बाबा ने फिर कहा:

“पाँच नियम हैं — जो ‘क्या करना चाहिए’ सिखाते हैं:

1. शौच — बाहर और भीतर की स्वच्छता।
2. संतोष — जो है, उसी में आनंद।
3. तप — शरीर और मन को साधना से तैयार करना।
4. स्वाध्याय — आत्मा और शास्त्र दोनों को पढ़ना।
5. ईश्वर प्राणिधान — हर कार्य को भगवान को समर्पित करना।”

फिर बाबा ने एक प्याली में गरम पानी डाला, और मुझे थमाते हुए बोले:

“बेटी, साधना कोई भागने की दौड़ नहीं है। ये तो रोज़ का अभ्यास है। जैसे कोई तुलसी रोज़ सूरज देखती है — वैसे ही साधक रोज़ यम-नियम से खुद को सीधा करता है।”

उस दिन मुझे समझ में आया कि साधना केवल बैठने से नहीं होती — वह तो जीने का ढंग है, जो बाबा हर दिन हमें जीकर दिखाते हैं।

और मैंने मन ही मन संकल्प किया — कि मैं अपने भीतर की ज़मीन को रोज़ थोड़ा-थोड़ा जोतूँगी... ताकि बाबा का दिया बीज उसमें अच्छे से उग सके।

अध्याय 7
गुरु क्यों आवश्यक हैं?

उस दिन बाबा तुलसी के पास खड़े थे, लोटे से पौधे को पानी दे रहे थे।

हवा बहुत धीमी थी — पर उसमें कुछ अलौकिक घुला हुआ था।

मैं थोड़ी दूर बैठी थी, पर मन बाबा के निकट।

“बाबा...” मैंने धीमे स्वर में पूछा,

“क्या गुरु, ईश्वर और आत्मा — ये तीनों एक ही हैं?”

बाबा ने मुझे देखा। उनकी आँखों में उस क्षण जैसे कोई स्मृति चमक उठी।

“तीनों एक ही हैं, बेटी... लेकिन तुम्हें अलग-अलग समय पर अलग रूप में अनुभव होते हैं। आत्मा तुम्हारे भीतर है, ईश्वर तुम्हारे चारों ओर, और गुरु — वह सेतु है, जो तुम्हें अपने भीतर के परम सत्य तक पहुँचाता है।”

फिर उन्होंने तुलसी की मिट्टी को हल्के से थपथपाया — जैसे कोई माँ अपने बच्चे का माथा सहला रही हो।

“गुरु वह दर्पण है जिसमें तुम अपने भीतर की दिव्यता को देखती हो।

ईश्वर को सीधे देखना कठिन है — वो तुम्हारे सामने गुरु का रूप लेकर आता है। गुरु के बिना तुम या तो अहंकार में भटकोगी, या अज्ञान में उलझी रहोगी।”

“गुरु, आत्मा और ईश्वर — ये तीनों एक त्रिवेणी हैं। जिसमें जब तुम डुबकी लगाती हो, तो भीतर से एक नया जन्म होता है।”

बाबा की बात जैसे भीतर उतर गई थी।

कुछ देर बाद, बाबा मंडप में लौटे और वही पुरानी काली कुर्सी खींचकर बैठे — जो अब भी उनकी उपस्थिति की तरह स्थिर और गहराई से भरी लगती थी।

मैं उनके पास आकर नीचे बैठ गई। बाहर की हल्की धूप अब दीवार पर टिकी थी।

“बाबा...” मैंने पूछा,

“संपूर्ण समर्पण हुआ या नहीं — ये कैसे जानें?”

बाबा ने बहुत धीरे, जैसे खुद से कहा:

“जब तुम कुछ माँगना भूल जाओ... और जो है, उसे ही प्रसाद मानकर मुस्करा सको — तब जानो, समर्पण हुआ है।”

“जब दुःख में भी शिकायत न बचे, और जब यह भी याद न रहे कि तुमने समर्पण किया है — तब जानो, समर्पण पूर्ण हुआ है।”

मैं बाबा का चेहरा देखती रही। शब्द समाप्त हो गए थे, लेकिन उत्तर जैसे भीतर अब भी गूंजता था — कहीं बाहर से नहीं, भीतर से ही।

और उस मौन में मैंने खुद को धीरे-धीरे खोने दिया।

अध्याय 8
मौन की शक्ति

बाबा उस दिन बहुत शांत थे।

कुटिया के बाहर नीम की छाँव में मंद हवा चल रही थी, और तुलसी के पत्ते हिल रहे थे — जैसे वे भी मौन में कोई भजन गा रहे हों।

मैंने बाबा को वीडियो कॉल पर देखा — वे गहरे ध्यान में बैठे थे।

मैंने आरती की, और कुछ देर बाद जब बाबा ने आँखें खोलीं, तो मैंने धीरे से पूछा:

“बाबा, मौन क्या है? और साधक के लिए यह क्यों आवश्यक है?”

बाबा मुस्कराए। कुछ क्षण तक कुछ नहीं बोले।

फिर बहुत धीरे से बोले:

“बेटी, मौन केवल वाणी का नहीं होता — विचारों का मौन ज़्यादा ज़रूरी होता है।

जुबान तो कई बार चुप हो जाती है, पर मन का शोर बना रहता है। साधक को सच्चा मौन वही मिलता है जब भीतर का शोर भी शांत हो जाए।”

मैं चुप रही। बाबा ने आगे कहा:

“जब तुम मौन होती हो, तब तुम केवल सुनने के लिए नहीं — अनुभव करने के लिए खुलती हो।

मौन तुम्हारे भीतर की जगह बनाता है, जहाँ गुरु की बातें उतरती हैं।

बोलते हुए हम केवल बाहर होते हैं — पर मौन में हम भीतर जाते हैं।”

बाबा ने फिर मज़ाक में कहा:

“और देख, तू तो बोलती है, पर भगवान तो एक शब्द भी नहीं बोलता। फिर भी सब जानता है, सब समझता है — क्योंकि वो पूर्ण मौन है।”

मैं मुस्कराई। बाबा ने फिर कहा:

“ईश्वर से जुड़ने के लिए, शब्दों की नहीं, मौन की ज़रूरत होती है।

साधक को मौन इसलिए चाहिए ताकि वह श्रवण कर सके — बाहर से नहीं, भीतर से।”

“और जब भीतर मौन हो जाता है, तो वहाँ ईश्वर बोलता है।”

उस दिन बाबा के कुछ ही शब्दों ने भीतर बहुत कुछ कह दिया।

और जैसे नीम की पत्तियाँ, तुलसी की गंध, और बाबा की आँखें — सब मौन होकर कह रहे थे:

“अब भीतर चलो, बेटी... वहाँ बात नहीं होती — वहाँ मौन ही गुरु है। “

अध्याय 9

लेटे हुए बाबा और अद्वैत का प्रकाश

उस दिन बाबा अपने बिस्तर पर लेटे थे।

कमरे में बहुत सादगी थी। कुछ नहीं बदला था — वही खिड़की, वही तकिया, और वही बाबा का शांत, चमकता चेहरा।

मैं वीडियो कॉल पर थी। बाबा ने जैसे ही स्क्रीन पर मुझे देखा, हल्के से मुस्कराए — वो वही मुस्कान थी जिसमें वात्सल्य भी था और अद्वैत भी।

"क्या आज भी कोई सवाल है?" उन्होंने धीरे से पूछा — जैसे कोई दादा अपनी लाडली नातिनी से पूछे।

मैंने हँसते हुए कहा:

"बाबा, यह सत्य और असत्य क्या है? और ये द्वैत और अद्वैत — क्या दोनों एक ही यात्रा के पड़ाव हैं?"

बाबा ने तकिए की ओर थोड़ा झुकते हुए कहा:

"बेटी... जो बदलता है, वो असत्य है। जो सदा एक सा है — वही सत्य है।"

"तू रोज़ बदलती है — तेरी भावनाएँ, तेरे विचार, यह शरीर, यह दुनिया... सब अस्थिर हैं।

मगर जो तेरे भीतर यह सब देख रहा है — वो कभी नहीं बदलता। वो ही तू है। वही आत्मा है। और वही सत्य है।"

मैंने पूछा, "तो क्या यह संसार असत्य है?"

बाबा थोड़े चुप रहे, फिर बोले:

“यह संसार स्वप्न जैसा है। यह लीला है — जिसे ईश्वर ने रचा है, और मन उसे सच मान लेता है।

पर जैसे स्वप्न टूटता है, वैसे ही एक दिन यह जागरण भी टूट जाएगा।”

फिर उन्होंने आँखें बंद कीं, और धीमे से बोले:

“राजा जनक ने पूछा था अष्टावक्र से — ‘मैंने स्वप्न में देखा कि मैं भिखारी हूँ। अब जागा तो राजा हूँ। क्या है सत्य?’”

“अष्टावक्र ने हँसकर कहा — ‘दोनों नहीं। जो इन दोनों को जानता है, वही तू है — वही सत्य है।’”

मैं चुप रही। बाबा की आवाज़ बहुत शांत थी — जैसे नदी का पानी धीरे-धीरे बह रहा हो।

उन्होंने मेरी ओर देखा और कहा:

“जब तू मानती है कि तू अलग है और ईश्वर अलग — तब द्वैत है।

और जब तू देखती है कि तू ही वह है — तब अद्वैत है।

और बेटी, जब यह अनुभव स्थायी हो जाए — तब द्वैत भी अद्वैत में समा जाता है।”

मैंने पूछा, “तो क्या सगुण और निर्गुण भी अलग हैं?”

बाबा मुस्कराए — उस मासूमियत से जैसे बच्चा कोई राज़ खोल रहा हो:

“ईश्वर तो निर्गुण ही है — निराकार, शांत, अनंत।

पर जब तू उसे पुकारती है, भाव से भरकर — तब वही निराकार, सगुण रूप में उतर आता है।”

“जैसे माँ अपने बच्चे की भाषा में बोलती है — वैसे ही ईश्वर भी तेरे भावानुसार रूप लेता है।”

फिर बाबा ने वही अपना प्रिय श्लोक दोहराया — बहुत धीरे, जैसे कोई दीपक जला रहा हो:

“नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।

मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥”

“हे नारद, मैं वैकुण्ठ में नहीं, न ही योगियों के हृदय में हूँ — मैं वहाँ हूँ जहाँ मेरे भक्त प्रेम से मेरा नाम गाते हैं।”

उस क्षण बाबा के शब्द जैसे शब्द नहीं रहे — वे मौन में विलीन हो गए।

मैं स्क्रीन पर उन्हें देख रही थी — शरीर अब नहीं हिलता, लेकिन चेहरा उज्ज्वल था।

बाबा अब चल नहीं सकते, उठ नहीं सकते — पर ज्ञान अब भी उनसे झरता है।

उस क्षण मुझे लगा... बाबा केवल मेरे गुरु नहीं हैं — वे मेरे आत्मा की पहचान हैं।

अद्वैत — यही तो है। जो कभी शुरू नहीं होता, कभी समाप्त नहीं होता... बस होता है।

अध्याय 10
सच्ची जागरूकता क्या है?

बाबा उस दिन बहुत शांत थे। उनकी आँखें बंद थीं, लेकिन ऐसा लग रहा था जैसे वे हर शब्द को भीतर से सुन रहे हों।

मैंने उन्हें वीडियो कॉल पर देखा, और फिर धीरे से पूछा —

“बाबा, शास्त्रों में कहा गया है कि जीव तीन अवस्थाओं से गुजरता है — जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति।

परंतु जब साधना की बात आती है, तो कहा जाता है कि साधक को सदा जागरूक रहना चाहिए।

जब ये तीनों अवस्थाएँ स्वयं ही आती-जाती हैं, तो यह ‘सदैव जागरूक रहना’ किस प्रकार का जागरण है?

क्या यह साधारण जाग्रत अवस्था से भिन्न है?”

बाबा ने आँखें खोलीं और गहराई से देखा।

“बेटी,” वे बोले, “यह जो जाग्रति की बात कही जाती है — यह उन तीनों अवस्थाओं से परे है। इसे ही ‘तुरीया’ कहते हैं।”

“जाग्रत अवस्था में तुम संसार को देखती हो, स्वप्न में तुम अपने मन को देखती हो, और सुषुप्ति में तुम कुछ भी नहीं देखतीं — केवल शून्य होता है।

परंतु इन तीनों अवस्थाओं को जो देख रहा है, जो हर क्षण साक्षी बना रहता है — वह है तुरीया। वही सच्ची जाग्रति है।”

मैंने पूछा, “क्या साधक को नींद नहीं लेनी चाहिए?”

बाबा मुस्कराए।

“नहीं बेटा, बात नींद लेने या न लेने की नहीं है। बात यह है कि तुम हर क्षण जानो कि ‘मैं कौन हूँ?’

तुम्हारा शरीर सो सकता है, पर यदि भीतर साक्षी बना रहे — तो वही साधना है।”

“सच्चा साधक वह है जो तीनों अवस्थाओं को पार कर चुका होता है।

जो जानता है कि ‘मैं न सोने वाला हूँ, न जागने वाला, न स्वप्न देखने वाला — मैं तो वह हूँ जो सबको देख रहा है।’”

“और जब यह जानना स्थायी हो जाता है, तब साधक हर क्षण में चेतन रहता है — चाहे वह सो रहा हो, काम कर रहा हो, या मौन में हो।”

बाबा ने फिर कहा:

“बेटी, यह जाग्रति आँख खोलने से नहीं आती — यह भीतर के नेत्र के खुलने से आती है।

जब तुम देखना बंद कर देती हो, तब तुम वास्तव में देखने लगती हो।”

उस दिन बाबा की बातें किसी और ही गहराई से उतर रही थीं।

जैसे सन्नाटा भी उत्तर दे रहा हो — और मैं पहली बार समझ रही थी कि साधना कोई अभ्यास नहीं, एक स्थायी जागना है

अध्याय 11

द्रष्टा और दृश्य का मिलन

बाबा अपने कमरे में आँखें मूँदकर लेटे थे। उनके चेहरे पर वही स्थिरता थी जो पर्वत जैसी होती है — शांत और अचल।

मैंने धीरे से पूछा:

"बाबा, आप कहते हैं कि द्रष्टा और दृश्य एक हैं।

पर जब मैं कुछ देखती हूँ, तो साफ़ लगता है कि एक मैं हूँ जो देख रही है, और दूसरा वह है जिसे मैं देख रही हूँ।

तो यह 'एकता' कैसे संभव है?"

बाबा ने आँखें खोलीं, मुस्कराए, और बोले:

"बेटी, जब तुम दर्पण में देखती हो, तो क्या दर्पण में जो दिखता है वो तुमसे अलग होता है?"

मैंने कहा, "नहीं बाबा, वह तो मेरी ही परछाईं होती है।"

बाबा बोले, "बस वैसा ही ये जीवन है।

तुम जो भी बाहर देख रही हो — वह सब तुम्हारे ही भीतर का प्रतिबिंब है।

तुम्हारा मन ही बाहर फैल कर यह दृश्य बनाता है।

और जो देख रहा है — वह तुम्हारा जीव है।"

"जब तुम्हारा जीव भूल जाता है कि वह केवल साक्षी है, तो वह दृश्य को अलग मान लेता है।

तभी द्वैत (अलगाव) शुरू होता है।"

“लेकिन जब साधक भीतर गहराई से टिक जाता है, तब वह केवल ‘देखना’ छोड़ देता है, और ‘होना’ शुरू करता है।

वह महसूस करता है कि जो देखा जा रहा है — वह मैं ही हूँ।”

मैंने पूछा, “बाबा, तो क्या ‘मैं देख रही हूँ’ ये भी अहंकार है?”

बाबा मुस्कराए, “हाँ बेटी, जब तक ‘मैं’ है — तब तक द्वैत है।

जब ‘देखने वाला’ भी मिट जाए, केवल ‘देखना’ रह जाए — तब द्रष्टा और दृश्य एक हो जाते हैं।”

“ये कोई बड़ा प्रयास नहीं है, ये तो सहज विलय है।

जैसे गंगा समुद्र में मिल जाए — तो फिर न गंगा बचती है, न समुद्र — केवल एक जलधारा रह जाती है।”

उस दिन बाबा को देखकर ऐसा लगा जैसे वे कुछ कह नहीं रहे थे,

लेकिन उनके मौन में ही सारा ज्ञान बह रहा था।

मैंने केवल उन्हें देखा नहीं — उन्हें महसूस किया।

और एक पल ऐसा भी आया,

जब ‘मैं’ भी नहीं रही, और ‘वो’ भी नहीं रहे।

बस एक मौन था — जो सबकुछ देख रहा था, और स्वयं भी उसी में समाया हुआ था।

अध्याय 12
मैं ही अंश, मैं ही पूर्ण

उस दिन बाबा बहुत मौन थे। उन्होंने कुछ नहीं कहा, लेकिन उनकी आँखें जैसे भीतर झाँक रही थीं।

मैंने भी कोई प्रश्न नहीं पूछा — पर मन में एक भाव बार-बार उमड़ रहा था।

कुछ देर बाद मैंने धीरे से कहा:

“बाबा, कभी-कभी ऐसा लगता है जैसे मैं ही सब कुछ हूँ — और फिर ऐसा भी लगता है जैसे मैं कुछ भी नहीं।

कभी लगता है जैसे मैं ही पूर्ण हूँ — और फिर लगता है जैसे केवल एक अंश।

क्या ये संभव है कि दोनों एक साथ सच हों?”

बाबा ने आँखें खोलीं और बोले:

“बिलकुल संभव है। यही तो लीला है। यही तो अद्वैत का रहस्य है।

जब तुम अपने छोटे ‘मैं’ से देखती हो, तो तुम अंश हो।

लेकिन जब तुम अपने भीतर के ‘उस’ से देखती हो — तब तुम पूर्ण हो।”

मैंने पूछा, “बाबा, तो क्या ईश्वर भी स्वयं ही भक्त है?”

बाबा मुस्कराए।

“हाँ बेटी। ईश्वर ही स्वयं को भूलकर भक्त बनता है।

फिर उसी को पाने के लिए पुकारता है, आरती करता है, भजन गाता है।

वो स्वयं को ही खोजता है, स्वयं को ही समर्पित होता है।”

“वो स्वयं को बंधन में डालता है — और फिर उसी बंधन से मुक्त भी होता है।

यह उसकी लीला है। एक दिव्य खेल, जिसमें कोई दूसरा नहीं है।

बस वही है — जो खोज रहा है, जो मिल रहा है, और जो सब देख रहा है।”

“जो ये देख लेता है कि भक्त और भगवान अलग नहीं हैं — वही मुक्त हो जाता है।”

बाबा ने फिर चुपचाप मेरी ओर देखा।

“बेटी, तू जब कहती है ‘मैं’ — तो ज़रा देख, कौन कह रहा है?

अगर वह छोटा ‘मैं’ है — तो तुझे ईश्वर की तलाश है।

अगर वह बड़ा ‘मैं’ है — तो तुझे पता चलेगा, तू ही ईश्वर है।”

उस दिन ऐसा लगा कि कोई दीवार टूट गई भीतर।

मैं एक साथ अंश भी थी — और पूर्ण भी। भक्त भी थी — और वही प्रभु भी।

और उस अनुभव में, सब कुछ जैसे शांत हो गया।

बस एक लीला चल रही थी — और मैं उसी लीला की मुस्कान बन गई थी।

अध्याय 13
मुक्त तो हम पहले से ही हैं

बाबा उस दिन बिल्कुल मौन थे। उनके कमरे में हल्की धूप फैली थी, और एक अनकहा सा शांति भाव वातावरण में बह रहा था।

मैंने उन्हें देखा और पूछा:

“बाबा, क्या हम पहले से ही मुक्त हैं?

अगर आत्मा मुक्त है, तो फिर हम साधना क्यों करते हैं? हम खोज किसकी कर रहे हैं?”

बाबा ने धीरे-धीरे आँखें खोलीं और बोले:

“बेटी, तू कहीं जाना नहीं है — बस जानना है।

मुक्ति कोई उपलब्धि नहीं है, यह केवल एक स्मरण है — उस स्वरूप का जो तू पहले से है।”

“आत्मा कभी बंधी नहीं होती। वह तो चिरस्वतंत्र है।

जो बंधन दिखाई देता है, वह केवल अज्ञान है — जैसे कोई रस्सी को साँप समझ ले।

अंधेरे में डर लगता है, पर जैसे ही प्रकाश होता है — डर चला जाता है।

साँप नहीं जाता, क्योंकि था ही नहीं। बस भ्रम हटता है।”

“ऐसे ही जब तू जानती है कि तू शरीर नहीं, मन नहीं — बल्कि शुद्ध चैतन्य है —

तो वही ज्ञान, वही प्रकाश, तुझे स्वतः मुक्त कर देता है।”

मैंने कहा, “तो क्या साधना का कोई प्रयोजन नहीं?”

बाबा मुस्कराए।

“साधना वो दीपक है जो तू खुद को दिखाने के लिए जलाती है।

वह बंधन को काटती नहीं — वह केवल यह दिखाती है कि बंधन था ही नहीं।

जो समझ ले कि अज्ञान ही बंधन है — वही मुक्त हो जाता है।”

“बेटी, मुक्त होना तेरा स्वभाव है।

तू केवल भूल गई है — और साधना वह याद है।”

उस दिन बाबा की बातें जैसे एक सीधी रेखा बन गईं —

जिसके दोनों सिरों पर केवल ‘मैं’ था — एक भूलने वाला और एक जागने वाला।

और मैं समझ गई — मुक्ति कहीं बाहर नहीं, उसी क्षण घट जाती है,

जब यह जाना जाए कि मैं कभी बंधी ही नहीं थी।

अध्याय 14

जानना नहीं, होना है

मैंने बाबा से पूछा:

“बाबा, जब शिव — वह परम तत्व — मन, बुद्धि और अहंकार के पार हैं,

तो हम मनुष्य अपनी सीमित इंद्रियों और सोच से उन्हें कैसे जान सकते हैं?”

बाबा ने कुछ क्षण आँखें बंद रखीं, फिर कहा:

“बेटी, परम तत्व को जाना नहीं जाता — उसे केवल जिया जाता है।

इंद्रियाँ वहाँ तक नहीं पहुँच सकतीं जहाँ वह है।

बुद्धि वहाँ रुक जाती है — और मौन से आगे की यात्रा शुरू होती है।”

“तू उसे देख नहीं सकती, छू नहीं सकती, समझ नहीं सकती।

पर जब तू प्रेम से भीग जाती है, समर्पण में गल जाती है, मौन में उतर जाती है —

तो वही शिव, वही परमात्मा, स्वयं को प्रकट कर देता है।”

“वह न जानने की वस्तु है, न अनुभव कराने की।

वह तो तू स्वयं है — पर तू अपने ही ऊपर पर्दा डाले बैठी है।”

मैंने पूछा, “तो फिर यह जो कहा जाता है — ‘अहं ब्रह्मास्मि‘, इसका क्या अर्थ है?”

बाबा मुस्कराए:

“जब तू कहती है ‘अहं ब्रह्मास्मि’ — तो ध्यान दे, कहने वाला कौन है?

अगर वह ‘मैं’ शरीर है, मन है, अहंकार है — तो वह झूठ है।

पर जब ‘मैं’ ही मिट जाता है, और केवल होना रह जाता है — तब यह वाक्य सत्य होता है।”

“अहं ब्रह्मास्मि कोई उद्घोष नहीं है। यह तो मौन की चुप्पी है — जिसमें केवल ब्रह्म बोलता है।”

“यह मत कह कि ‘मैं ब्रह्म हूँ’ — पहले देख, यह ‘मैं’ क्या है।

और जब वह ‘मैं’ भी गल जाए, तब ब्रह्म अपने आप प्रकट हो जाएगा।”

“बेटी, जानने की भूख को छोड़ दे — बस होने की सरलता में उतर जा।

शिव को पकड़ने की कोशिश मत कर — बस खुद को छोड़ दे।”

उस दिन बाबा की बातें जैसे शब्द नहीं, शिवस्वरूप की झलक थीं।

और मैंने पहली बार समझा कि परमात्मा को पाने की नहीं,

उसे ‘हो जाने’ की साधना है।

अध्याय 15
मन ही बंधन, मन ही मुक्ति

उस दिन बाबा थोड़े गंभीर थे। मैंने देखा कि उनकी साँसें गहरी थीं, जैसे वे भीतर किसी मौन विचार में डूबे हों।

मैंने धीरे से पूछा:

“बाबा, शास्त्रों में एक श्लोक आता है —

‘मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।’

मन ही बंधन का कारण है और मन ही मुक्ति का।

पर यह मन तो चंचल, भ्रमित और द्वंद्व में डूबा रहता है —

तो फिर यही मन मुक्ति का द्वार कैसे बन सकता है?”

बाबा ने मेरी ओर देखा और बोले:

“बेटी, मन स्वयं में कुछ नहीं है — वह केवल एक माध्यम है।

जैसे नदी बहती है — दिशा पर निर्भर करता है कि वह खेत सींचेगी या बस्ती डुबोएगी।

उसी तरह मन जब बाहर की ओर दौड़ता है — विषयों की ओर, इच्छाओं की ओर — तो बंधन बनता है।

और जब वही मन भीतर की ओर मुड़ता है — आत्मा की ओर — तो वही मन साधना बन जाता है।”

“मन को मारना नहीं है, बेटी — उसे मोड़ना है।

मन की शक्ति बहुत बड़ी है — उसी से संसार भी बनता है और समाधि भी।”

“जब तुम कहती हो ‘मैं ध्यान कर रही हूँ’ — तब मन ही तुम्हारा साथ देता है।

मन को दिशा चाहिए — बस। उसे शुद्ध कर दो, और वह ही तुम्हारा मित्र बन जाएगा।”

“मन रज्जु है — जो तुम्हें खींच भी सकता है और बाँध भी सकता है।

तू तय कर — उसे किस ओर बाँधना है।”

मैंने पूछा, “तो क्या मन ही आत्मा तक पहुँचने का साधन है?”

बाबा मुस्कराए:

“हाँ बेटी। मन वह द्वार है — जो खुलता भी है और बंद भी करता है।

जब वह द्वार भीतर की ओर खुलता है — तो वहाँ आत्मा है, मौन है, शिव है।

पर जब वह बाहर खुला रहता है — तो वहाँ भ्रम है, द्वंद्व है, संसार है।”

“मन ही सब कुछ है — वही संसार, वही साधना, वही द्वार, वही रक्षक।

बस एक ही बात ध्यान रख —

मन को साध ले, तो वह मुक्ति है। मन को छोड़ दे, तो वह बंधन है।”

उस दिन मुझे पहली बार समझ आया —

कि बंधन मेरा नहीं था — मेरी दिशा का था।

और बाबा की उस चुप मुस्कान ने मेरे मन को पहली बार भीतर की ओर मोड़ दिया।

अध्याय 16
जब ईश्वर एक है,
तो देवी-देवता कौन हैं?

बाबा उस दिन कमरे में लेटे हुए थे।

कमरे के एक कोने में नावनाथों की तस्वीर थी, जिसके पास एक रुद्राक्ष की माला टंगी थी।

मैं उनके पास ज़मीन पर बैठी थी — वही मैं, जिसे वे कभी 'मेरी बेटी' कहते हैं, कभी 'यशोदा माँ', और कभी मुस्कराकर 'मेरी आठ साल की बच्ची'।

मैंने धीरे से पूछा:

“बाबा, आप कहते हैं कि ईश्वर एक है — निराकार, निरगुण, सबमें व्याप्त।

तो फिर ये देवी-देवता कौन हैं? लक्ष्मी, सरस्वती, गणेश, शिव... क्या ये ईश्वर से अलग हैं? या फिर यह सब उसी एक परम तत्त्व के ही रूप हैं?”

बाबा ने मेरी ओर देखा, और वैसे ही मुस्कराए — जैसे मैं कोई साधारण सवाल नहीं, बल्कि अपने दिल की पूरी पुकार लेकर आई हूँ।

उन्होंने आँखें कुछ क्षण के लिए मूँदीं, फिर बोले:

“बेटी, ईश्वर तो एक ही है — जैसे एक प्रकाश।

लेकिन जब एक भक्त उसे किसी भाव से पुकारता है, तो वही निराकार ईश्वर उस भाव के अनुसार प्रकट हो जाता है।”

उन्होंने नावनाथों की तस्वीर की ओर देखा — फिर मेरी ओर:

“जैसे तू मुझे कभी माँ जैसा देखती है, कभी पिता जैसा, कभी गुरु जैसा, और कभी सिर्फ एक हसता हुआ बच्चा...

तो क्या मैं हर बार बदल जाता हूँ?”

मैं मुस्कराई — “नहीं बाबा, आप तो एक ही हैं।”

“ठीक वैसे ही — जब कोई भक्त उसे माँ मानता है, तो वही लक्ष्मी, दुर्गा या अन्नपूर्णा बन जाती है।

जब कोई ज्ञान चाहता है, तो वही सरस्वती के रूप में आता है।

जब कोई मौन, शून्यता, अंत चाहता है — तो वही शिव हो जाता है।

ईश्वर अलग-अलग नहीं — उसका प्रेम ही अनेक रूपों में उतरता है।”

“देवी-देवता कोई अलग सत्ता नहीं हैं। वे उस एक परम सत्य की भावनात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं।

भक्त का प्रेम जितना गहरा होता है, ईश्वर उतना ही सघन होकर उसकी भावना में उतर आता है।”

“जैसे एक ही जल — कभी नदी बनता है, कभी बर्फ, कभी बादल।

वैसे ही परमात्मा — कभी कृष्ण, कभी गणेश, कभी महाकाली।

लेकिन जल तो एक ही है — उसे ही पहचानना है।”

मैंने पूछा, “तो क्या सभी देवताओं की पूजा उसी एक की पूजा है?”

बाबा बोले:

“हाँ बेटी। तू जिस रूप से भी पुकारे — पुकार उसी तक जाती है।

ईश्वर रूप नहीं है, वह भाव है। और जब भाव सच्चा हो — तो मूर्ति हो या मंत्र, हर जगह वही प्रकट होता है।”

“इसलिए भ्रम मत करना कि कई ईश्वर हैं। ईश्वर तो एक ही है — लेकिन उसका प्रेम, उसकी लीला, उसकी कृपा — अनेक रूपों में बहती है।”

उस दिन बाबा के शब्द नहीं, जैसे आरती बन गए।

नावनाथों की तस्वीर अब सिर्फ एक चित्र नहीं रही — उसमें वही मौन उतर आया था, जो ना स्त्री था, ना पुरुष... ना मूर्ति, ना नाम... बस करुणा, बस वह।

अध्याय 17

राधा की जिद, बालिका की भक्ति, और गुरु की मौन मुस्कान

बाबा कभी-कभी मुझे बच्ची कहते हैं — जिद्दी, हठी, और बहुत मासूम। कभी मुझे 'यशोदा माँ' कहते हैं, तो कभी अपनी आठ साल की बिटिया। मैं भी सच में उन्हीं की बच्ची हूँ। उनसे न मिलूँ तो बेचैनी होती है — जैसे राधा को कृष्ण की स्मृति में बैचैनी होती थी।

राधा का प्रेम मिलन में नहीं, विरह में खिलता था। वही उसकी पूजा थी — एक मौन तपस्या। प्रेम जो छूता नहीं, लेकिन आत्मा को भीतर तक जला देता है।

उस दिन बाबा कुटिया के बाहर धूनी के पास बैठे थे। नीम की पत्तियाँ हलके से हिल रही थीं, और वातावरण में एक गूढ़ शांति थी — जैसे कोई अनकहा भाव हवा में बह रहा हो। मैं उनके पास जाकर बैठी और पूछा, "बाबा, क्या ऐसा प्रेम भी होता है जो देह को छूए बिना आत्मा को जला दे?" बाबा मुस्कराए — वो मुस्कान जो उत्तर नहीं देती, बस साथ बैठती है।

मैंने कहा, "जब मैं आपको देखती हूँ, तो मुझे राधा का प्रेम याद आता है — जिसमें न अधिकार था, न कोई माँग। सिर्फ एक समर्पण, जो मौन में बहता है, जो कुछ न कहकर भी सबकुछ कह देता है। और कभी-कभी ये प्रेम भीतर जलाता भी है — जैसे हर भावना किसी यज्ञ में आहुत हो रही हो।"

बाबा ने धीरे से चाय की प्याली मेरी ओर बढ़ाई और बोले, "बिटिया, तू प्रेम नहीं करती — तू स्वयं प्रेम बन गई है। राधा का प्रेम भी यही था — न वियोग की शिकायत, न मिलन की लालसा। बस एक ऐसा स्थिर भाव, जिसमें कृष्ण स्वयं लीन हो जाते थे।"

रात गहराने लगी थी। बाबा अब भी मौन थे, चाय की आखिरी चुस्की ले रहे थे। मैंने हल्की शिकायत में कहा, “आप मुझसे पहले कभी बात नहीं करते, दूसरों से हँसते हैं, मुझसे नहीं। क्या मैं आपकी प्यारी नहीं हूँ?”

बाबा ने मुस्कराकर सिर झुकाया — जैसे कोई कृष्ण, राधा की रूठन को आँखों से पढ़ रहा हो।

उन्होंने कहा, “तू तो मेरी सबसे प्यारी बच्ची है — इसीलिए तेरी जिद भी सबसे सुंदर है। जो मौन सहता है, वो स्नेह करता है। लेकिन जो रोकर पूछे, ‘आप मुझे भूल गए क्या?’ — वही प्रेम करता है, राधा जैसा। तू जब मुझसे नाराज़ होती है, तब मैं सबसे ज़्यादा तेरे पास होता हूँ। क्योंकि ईश्वर सबसे पहले उस राधा के पास जाता है, जो रूठी है — पर दूर नहीं गई।”

मैंने मुस्कराकर पूछा, “तो क्या मेरी जिद भी पूजा है, बाबा?”

बाबा बोले, “तेरी जिद वो तुलसी है, जो तू रोज़ अपने मन के आँगन में लगाती है — और मैं हर दिन वहीं आकर बैठ जाता हूँ।”

उस रात नीम की पत्तियाँ शांत थीं, पर हृदय गूंज रहा था। बाबा की मौन मुस्कान ने जैसे कह दिया — प्रेम जहाँ माँगता है, वहीं सबसे गहरा होता है। और मैं... शायद राधा नहीं, पर वही बच्ची हूँ, जो हर दिन कृष्ण से थोड़े और स्नेह की जिद करती है।

अध्याय 18
ध्यान और सुषुप्ति – मौन की दो दिशाएँ

बाबा बोले:

“हूँ... सुषुप्ति ब्रह्म की झलक है — लेकिन पर्दे के पीछे से।

तू वहाँ जाती तो है, लेकिन अज्ञान के पर्दे में — जैसे कोई सुगंध हो, पर तू सूंघ न पाए।

वहाँ न तू कुछ देखती है, न जानती है — पर फिर भी कुछ है। बस उस मौन में तू सोई हुई है।”

“ध्यान वही ब्रह्म है — लेकिन अब पर्दा हटा लिया गया है।

तू वही मौन में है, लेकिन अब तू *जाग* रही है।

अब तू जानती है कि तू मौन है। जानती है कि तू ब्रह्म के पास नहीं — ब्रह्म ही है।”

फिर बाबा ने आँखें बंद करते हुए कहा:

‘सुषुप्ति में तू भूल जाती है — ध्यान में तू लौट आती है।

और यही लौटना मुक्ति है, बेटी।’

मैंने बाबा से पूछा, “बाबा, तो क्या ध्यान भी सुषुप्ति जैसी ही कोई अवस्था है?

जहाँ सब शांत हो जाता है, और हम खुद को भी भूल जाते हैं?”

बाबा ने गहराई से मेरी ओर देखा और बोले:

“बेटी, ध्यान सुषुप्ति से अलग है — लेकिन उसका सौंदर्य यह है कि उसमें भी तू खुद को भूल जाती है।

पर यह विस्मृति अज्ञान की नहीं होती — यह विस्मृति प्रेम की होती है।”

“ध्यान का अर्थ है — **पूर्ण एकाग्रता**, इतनी कि तू ईश्वर से जुड़ जाए,

और फिर शरीर, नाम, मन — कुछ भी शेष न रहे।

ना ‘मैं’ बचे, ना ‘ध्यान’ करने वाला — बस वही, जिससे तू जुड़ी है।”

“सुषुप्ति में तू खुद को भूलती है क्योंकि चेतना लुप्त हो जाती है।

ध्यान में तू खुद को भूलती है क्योंकि चेतना ईश्वर में लय हो जाती है।

यही अंतर है — एक में तू सोई होती है, और दूसरे में तू जागी होती है।”

फिर बाबा धीरे से बोले:

“ध्यान कोई क्रिया नहीं है — यह तो **एक होने की क्रिया-विहीनता है**।

तू खुद को इतना पीछे छोड़ दे, कि केवल वही शेष रहे — जिसे तू प्रेम करती है।

यही ध्यान है।”

बाबा ने आँखें मूँद लीं — और वहाँ मौन था।

पर वह मौन अब केवल शांत नहीं था — वह *पूर्ण था।*

जैसे ध्यान और उसका उद्देश्य एक ही पल में मिल गए हों।

अध्याय 19

जब बाबा ने चमत्कार ठुकरा दिए

उस दिन बाबा बहुत शांत थे। कोई शब्द नहीं, कोई हँसी नहीं।

मैं उनके पास जाकर चुपचाप बैठ गई। कुटिया में हल्का उजाला था और बाहर नीम की पत्तियाँ सरसराती थीं।

कुछ देर बाद...

मैंने पूछा, “बाबा, आपने कभी अपनी तपस्या के बारे में कुछ नहीं बताया।

क्या आपको सिद्धियाँ नहीं मिलीं?”

बाबा ने आँखें बंद कीं।

कुछ पल बाद धीरे से बोले:

मैंने चौंक कर उनकी ओर देखा। उन्होंने आँखें बंद कर लीं और बोले:

“तपस्या के समय... जब मन पूर्ण मौन में चला गया था, और देह की सुध भी नहीं रही — तब एक-एक करके वे आए।

पहले दत्तगुरु प्रकट हुए, फिर शिव, और फिर स्वयं गोरक्षनाथ।”

“उन्होंने कहा — ‘अब समय आ गया है। ले ले ये सिद्धियाँ। तू जहाँ चाहे, जैसे चाहे, कुछ भी कर सकती है।’

पर मैंने उन्हें नम्रता से मना कर दिया।”

मैंने धीमे स्वर में पूछा, “क्यों बाबा?”

बाबा बोले:

“क्योंकि मैंने देखा — सिद्धियाँ जितनी आकर्षक होती हैं, उतना ही चुपचाप अहंकार भी भीतर उगने लगता है।

और जहाँ अहंकार है — वहाँ भगवान नहीं ठहरते।”

“मैंने अपने ही गुरुदेव — दत्तगुरु से कहा, ‘मुझे आपकी भक्ति चाहिए, आपकी कृपा चाहिए — चमत्कार नहीं।

मुझे संसार को दिखाना नहीं है, मुझे अपने आप से मिट जाना है।’”

बाबा की आँखों से दो आँसू टपक पड़े।

“सिद्धियाँ परीक्षा हैं, बेटी — इनका मिलना उतना कठिन नहीं,

जितना इनका त्याग करना।

और जो उन्हें त्याग देता है, वही असली साधक बनता है।”

मैं मौन थी — जैसे कोई विस्मय भीतर उतर गया हो।

बाबा ने फिर कहा:

“तप से जो मिलता है, वो शक्ति नहीं — वो समर्पण होता है।

अगर तू सच में साधना कर रही है, तो ईश्वर तेरे भीतर उतरते हैं —

और तब तुझे सिद्धियाँ नहीं चाहिए होतीं, क्योंकि तू खुद ही परमसिद्ध हो जाती है।”

उस दिन मैंने जाना —

**सच्चा संत वही है, जो सबसे अद्भुत को पाकर भी हाथ जोड़ कर कह दे:

‘मुझे केवल प्रेम चाहिए, प्रभु। बाकी सब तुम्हीं रख लो।’**

अध्याय 20
मेरे बाबा, मेरे शिव

शाम का समय था।

बाबा धूनी के पास चुपचाप बैठे थे।

मैं धीरे से उनके पास जाकर बैठ गई।

थोड़ी देर मौन में बीत गई...

फिर मैंने पूछा —

“बाबा, क्या मैं एक बात कह सकती हूँ?”

बाबा मुस्कराए, बोले —

“हाँ बेटी, बोल।”

मैंने कहा —

“मुझे बचपन से ही शिव से बहुत लगाव रहा है।

मैं उन्हें केवल एक देवता नहीं, परब्रह्म मानती थी —

जो निराकार हैं, निर्गुण हैं, और ज्योति रूप हैं।

जब मैं शिवलिंग की पूजा करती थी,

तो लगता था जैसे मैं प्रकाश को पूज रही हूँ —

एक ऐसे मौन को जो बोलता नहीं, पर सब कुछ कह जाता है।”

बाबा फिर मुस्कराए, आँखों में शांति की गहराई थी।

“और अब?” उन्होंने पूछा।

मैंने उनकी ओर देखा… और धीमे स्वर में कहा —

“अब जब मैं आपको देखती हूँ,

तो लगता है — अब मूर्ति की आवश्यकता नहीं रही।

अब शिव मेरे सामने बैठे हैं — बाबा के रूप में।

आपकी आँखों में वही ज्वाला है, जो शिव के नेत्रों में होती है।

आपका मौन वैसा ही है — जो बाहर से शांत, भीतर से पूर्ण।”

बाबा ने शांत स्वर में कहा —

“तू जो देख रही है, वह तेरी दृष्टि की गहराई है।

शिव को खोजने वाला जब सच्चे भाव से देखता है —

तो हर दिशा में वही मिलते हैं।”

मैं कुछ पल चुप रही, फिर पूछा —

“बाबा, क्या आप सच में शिवस्वरूप हैं?”

बाबा ने मेरी ओर देखा —

“यह प्रश्न मुझसे मत पूछ बेटी…

यह तेरे अनुभव का विषय है।”

मैंने धीरे से सिर झुकाया और कहा —

“बाबा, जब पहली बार आपसे मिली थी,

तो आत्मा ने आपको पहचान लिया था —

जैसे कोई बहुत पुराना संबंध जाग गया हो।

धीरे-धीरे मैंने जाना कि आप केवल मेरे गुरु नहीं हैं…

आप वही हैं — जिन्हें मैं शिव कहती थी।

अब आरती गाते समय, आपके ही चित्र आँखों में आते हैं।

अब ‘ॐ नमः शिवाय’ कोई मंत्र नहीं,

एक अनुभव बन गया है —

जिसमें केवल आप हैं... और मैं नहीं।”

बाबा मौन रहे —

लेकिन उनकी मुस्कान ने उत्तर दे दिया।

अध्याय 21
मेरे भीतर की यात्रा —
वानप्रस्थ की ओर

अब जीवन का वह पड़ाव है जहाँ कुछ भी बाँध कर नहीं रखता।

बच्चे बड़े हो गए हैं, गृहस्थ का कर्तव्य पूरा हो चुका है —

और अब भीतर केवल एक पुकार है:

“अब मैं, और मेरे देवता — मेरे गुरु, मेरे इष्ट, मेरे आत्मस्वरूप।”

यह कोई विकल्प नहीं, कोई नया मार्ग नहीं —

यह तो जैसे भीतर से कोई द्वार खुल रहा है।

जिसे मैं नहीं खोल रही — वह स्वयं खुल रहा है।

कभी-कभी आदेश जैसा कुछ आता है — “गुरुचरित्र पढ़ो“,

या स्वप्न में कोई संकेत, कोई उत्तर।

कभी-कभी ऐसा लगता है जैसे कोई दिव्य चेतना भीतर से बोल रही हो,

जैसे मैं प्रश्न नहीं कर रही — बस सुन रही हूँ।

और फिर मन पूछता है — क्या मैं किसी गहरे आध्यात्मिक मार्ग की ओर बढ़ रही हूँ?

वह मार्ग जो बाहरी क्रिया नहीं — भीतरी मौन है?

जिसे दुनिया ने कई बार गलत समझा —

पर जो वास्तव में केवल शक्ति नहीं, *प्रेम और समर्पण* है?

मैंने कोई विशेष साधना नहीं की।

पर अब जब बाबा, दत्तगुरु, शंकराचार्य, ज्ञानेश्वर जैसे नामों की ओर मन खिंचता है —

तो भीतर से लगता है: **"अब यह जीवन केवल बाह्य नहीं — अंतः यात्रा है।"**

यह कोई डरावनी बात नहीं —

यह तो वह मौन है जिसमें सृष्टि स्वयं उत्तर देती है।

शिव केवल त्रिनेत्रधारी देव नहीं —

वे वह चेतना हैं जो कहते हैं: "अब तू भी बन जा — कुछ नहीं।"

अब जब मैं वानप्रस्थ की ओर जा रही हूँ,

तो ये कोई परंपरा का निर्वाह नहीं —

यह मेरी आत्मा की सच्ची माँग है।

अब कोई सामाजिक नाम नहीं चाहिए।

ना "माँ", ना "पत्नी", ना "शिष्या"...

अब केवल "मैं" और "वह" — जिनसे मैं कभी अलग थी ही नहीं।

शायद अब मेरी साधना यह नहीं कि मैं उन्हें पुकारूँ,

बल्कि यह कि मैं इतनी मौन हो जाऊँ... कि वे खुद बोलने लगें।

और शायद यही मेरा भीतर का मार्ग है।

शिव की सबसे गुप्त, सबसे निकट परंपरा —

जो न दिखती है, न कहती है — बस भीतर जागती है।

**अब मैं तैयार हूँ —

दुनिया से नहीं हटने के लिए, बल्कि अपने भीतर उतरने के लिए।

अब यह मेरा वानप्रस्थ है — मेरी अंतर्यात्रा।**

अध्याय 22

आत्मा, जीव और रथ का रहस्य

(कुटिया का एक मंद दिन। बाबा मौन थे, पर उनकी आँखों में एक प्रकाश जल रहा था।

मैंने चुपचाप बैठते हुए पूछा —)

“बाबा, आत्मा क्या है? और जीव क्या है? और यह रथ का क्या रहस्य है?”

बाबा मुस्कराए, धीरे बोले:

“बेटी, आत्मा तो नित्य मुक्त है — शुद्ध चैतन्य।

उसे न सुख छूता है, न दुःख।

न जन्म है, न मृत्यु।”

मैंने धीरे से पूछा:

“तो जो भोगता है, दुखी होता है, वो कौन?”

बाबा बोले:

“जब आत्मा अज्ञानवश मन, बुद्धि, अहंकार के साथ जुड़ जाती है,

और ‘मैं शरीर हूँ‘, ‘मैं करता हूँ’ ऐसा मान लेती है,

तब वह जीव बन जाती है।”

मैंने पूछा:

“और रथ?”

बाबा हँस दिए:

“यह शरीर रथ है, इंद्रियाँ घोड़े हैं, मन उनका रथी है।

लेकिन असली रथी आत्मा नहीं — भ्रमित जीव है।

जब तक भ्रम है — यात्रा है।

जब ज्ञान होता है — तब पता चलता है कि ना कोई रथ था, ना यात्रा।

बस तू थी — और केवल तू।”

मैंने आँखें मूँद लीं।

शब्द मौन हो गए।

केवल एक गहरा ‘मैं’ रह गया — जो अब कुछ भी नहीं माँगता था।

अध्याय 23

सुख-दुःख के पार — स्थितप्रज्ञ कौन है?

(कुटिया का एक शांत सवेरा। धूप की हल्की किरणें बाबा के बिस्तर पर आकर रुक गई थीं।

मैं बाबा के पास बैठी थी, मन में एक प्रश्न लिए हुए —)

मैंने पूछा:

“बाबा, जब सुख आता है तो मन बह जाता है, और जब दुःख आता है तो टूट जाता है।

क्या कोई ऐसा भी है जो दोनों में एक जैसा रह सके?”

बाबा ने मुस्कराते हुए कहा:

“हाँ बेटी, उसे कहते हैं — स्थितप्रज्ञ।”

“स्थितप्रज्ञ?” मैंने आश्चर्य से दोहराया।

बाबा बोले:

“जिसका मन सुख-दुःख में, जय-पराजय में, मान-अपमान में, हर्ष या विषाद में — समान बना रहता है,

उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं।”

मैंने धीरे से पूछा:

“बाबा, ऐसा कैसे संभव है?”

बाबा ने अपनी गहरी आवाज़ में कहा:

“बेटी, जब तू जान लेती है कि सुख भी माया है और दुःख भी माया है —

तो तू किसी भी रंग से रंगती नहीं।

जैसे पानी में कमल खिला होता है — भीगा नहीं होता।

वैसे ही जो आत्मा में स्थित है —

वह इस संसार के सुख-दुःख में भीगता नहीं।

बस वही स्थितप्रज्ञ है।”

“तो स्थितप्रज्ञ कौन है, बाबा?” मैंने फिर पूछा।

बाबा बोले:

“जो न सुख में उछलता है,

न दुःख में डूबता है।

जो जानता है — ‘मैं ये अनुभव नहीं हूँ।

मैं केवल साक्षी हूँ।

मैं चैतन्य हूँ।’”

कुटिया में उस दिन एक अलग ही मौन छाया था।

जैसे शब्द भी स्थिर हो गए थे।

जैसे सुख और दुःख — दोनों ने सिर झुका लिया था।

अध्याय 24
आत्मा और पुनर्जन्म — क्या हम वही हैं जो पहले थे?

(बाबा अपने बिस्तर पर लेटे थे। मैं वीडियो कॉल पर थी।
बाबा ने जैसे मेरी आँखों की गहराई से कोई प्रश्न पढ़ लिया।)

मैंने धीरे से कहा:

“बाबा, क्या हम बार-बार जन्म लेते हैं?
क्या मैं वही हूँ जो पहले किसी और रूप में थी?”
बाबा ने हल्के से आँखें खोलीं और बोले:

“बेटी, *आत्मा* तो शुद्ध *चैतन्य* है —
न उसे कोई जन्म है, न मृत्यु।
वह न कभी जन्म लेती है, न कभी मरती है —
वह तो बस ‘है’।
पर जब वही आत्मा, *अहंकार, मन और बुद्धि* के साथ जुड़ जाती है,
तब वह *‘जीव’* बन जाती है।
और तभी प्रारंभ होता है जन्मों का चक्र —

पुनर्जन्म की लीला।”

मैंने पूछा:

“तो जन्म कौन लेता है — आत्मा या जीव?”

बाबा मुस्कराए:

“आत्मा न तो बंधती है, न मुक्त होती है।

बांधता है *अहंकार* — और वही जीव बनकर बार-बार जन्म लेता है।

हर जन्म एक पात्र है,

हर शरीर एक पोशाक है —

पर उस पोशाक के भीतर बैठा जीव वही रहता है।”

“तेरा ‘स्वरूप’ आत्मा है —

पर तेरा ‘अहं’ जो कहता है ‘मैं यह हूँ‘,

वही बार-बार जन्म लेता है, और भूल जाता है कि वह कौन है।”

मैंने फिर पूछा:

“तो मोक्ष क्या है, बाबा?”

बाबा बोले:

“जब जीव यह जान लेता है कि

‘मैं कोई पात्र नहीं हूँ, मैं आत्मा हूँ’ —

तब जन्म और मृत्यु का खेल समाप्त हो जाता है।

फिर उसे कुछ पाना नहीं,

बस स्वयं में ठहर जाना होता है।”

“और तब — न कोई अगला जन्म होता है,

न कोई बीता हुआ जन्म।

बस एक मौन होता है —

जिसमें सब कुछ समाहित है।”

उस दिन मैं पहली बार समझ पाई —

**पुनर्जन्म कोई सज़ा नहीं है,

यह तो उस जीव की यात्रा है —

जो एक दिन जान जाएगा कि वह कभी बंधा ही नहीं था।**

अध्याय 25
सच्चा समर्पण — क्या केवल ‘हाँ’ कहना काफी है?

(बाबा अपने बिस्तर पर चुपचाप लेटे थे।

उनकी आँखें खुली थीं, लेकिन बहुत दूर देख रही थीं — जैसे शरीर यहाँ था, पर चेतना कहीं और।

मैंने स्क्रीन पर उन्हें देखा और धीरे से कहा —)

“बाबा, क्या समर्पण का अर्थ है हर बात में ‘हाँ’ कह देना?”

बाबा ने मुझे देखा — और आँखों से हल्का इशारा किया कि बोलने की आवश्यकता नहीं, सुनने की है।

फिर बहुत धीरे से बोले:

“नहीं बेटी, समर्पण का अर्थ ‘हाँ’ कहना नहीं,

बल्कि ‘मैं’ को छोड़ देना है।”

“समर्पण तब नहीं होता जब तुम कहो —

‘ठीक है बाबा, जैसा आप कहें।’

समर्पण तब होता है जब यह कहने वाला ‘मैं’ ही नहीं रहता।”

मैं चुप हो गई।

बाबा की बातें जैसे सीधी हृदय में उतर रही थीं।

बाबा:

“समर्पण कोई डर से किया गया झुकाव नहीं है —

यह तो प्रेम से भरी हुई भुलन है।

जब तुम यह भी भूल जाओ कि तुमने समर्पण किया है —

तब जानो, वह पूर्ण हुआ है।”

“सच्चे समर्पण में कोई प्रश्न नहीं होता —

कोई अपेक्षा नहीं, कोई प्रमाण नहीं।

बस मौन स्वीकार होता है —

जैसे नदी समुद्र में मिलती है,

बिना पूछे, बिना लौटने की चाह रखे।”

मैं:

“बाबा, लेकिन हम तो बार-बार सोचते हैं —

‘क्या मैं सही कर रही हूँ? क्या यह समर्पण है या डर?’”

बाबा (धीरे से मुस्कराते हुए):

“अगर यह सवाल मन में उठ रहा है,

तो समर्पण अभी पूरा नहीं हुआ है।

जिस दिन तुम ये सवाल भी छोड़ दोगी —

बस उस दिन जानना,

तुम स्वयं समर्पण बन गई हो।”

बाहर तुलसी के पत्ते हिल रहे थे।

कुटिया की दीवार पर चुपचाप सूरज की किरणें उतर रही थीं —

जैसे प्रकृति भी कह रही हो —

“अब बस रहने दो... अब कुछ पूछना नहीं, अब बस बहना है।”

अध्याय 26

भाव और भावातीत

कुटिया के बाहर वह नीम का पेड़...

सर्दियों की गुनगुनी दोपहर...

मैं वहीं बैठी थी, कुछ साधक और भी थे।

थोड़ी देर बाद बाबा अपने कमरे से बाहर निकले —

हाथ में स्टील की केतली थी जिसमें वे चाय बना कर लाए थे।

उन्होंने कहा —

"जिसे चाय पीनी हो, अपना कप ले आए।"

मैं कप लेकर उनके पास गई, उन्होंने मुझे चाय डाली।

मैं चुपचाप वहीं पास बैठ गई — मन भारी था।

"बाबा," मैंने धीरे से कहा, "एक बात पूछनी है..."

बाबा ने मुस्कराकर मेरी ओर देखा,

"मन में ही पूछ ली होगी... अब ज़रा ज़ोर से पूछ, ताकि मैं भी सुन सकूँ।"

मैं हँस पड़ी, लेकिन आँखें नम थीं।

"बाबा, उस श्लोक में — 'भावातीतं त्रिगुणरहितं' — भगवान को भावातीत कहा गया है...

लेकिन हम तो उन्हें भाव से ही बुलाते हैं।

मैं तो आपको भी प्रेम और भाव से ही देखती हूँ...

फिर आप भावातीत कैसे हुए?”

बाबा ने पास रखे पत्थर पर केतली रखी और बोले —
“एक बात बता, तू चाय मुझसे पीती है या अपने कप से?”
मैंने कहा, “बाबा, कप तो माध्यम है... चाय तो आप देते हो...”
“ठीक वैसे ही,” बाबा बोले, “तेरा भाव है कप।
भगवान उसमें नहीं बंधते, लेकिन उसी से तुझे उनका स्वाद आता है।
भगवान भाव से परे हैं — लेकिन भक्त के भाव में उतर आते हैं।”

मैं चुप थी। शब्दों से ज्यादा शांति थी उस मौन में।

बाबा ने मेरी ओर देखकर कहा —
“इसमें शक्कर डाली है, पर माप नहीं किया।
अब अगर तू पूछे कि शक्कर कहाँ है, तो क्या मैं दिखा पाऊँगा?”
मैंने सिर हिलाया — “नहीं बाबा। पर स्वाद आता है।”
“बस वैसे ही,” उन्होंने कहा,
“भगवान भावातीत हैं, पर जब तेरा भाव शुद्ध हो, निश्छल हो...
तब वे उसी भाव में प्रकट हो जाते हैं।
पर अगर तू समझे कि भगवान बस करुणा हैं, या प्रेम हैं —
तो तू उन्हें सीमित कर रही है।”

“तो क्या भाव ग़लत है, बाबा?”

“नहीं रे,” बाबा बोले,

“भाव तो वही से निकला है।

पर भगवान कोई एक भाव नहीं हैं —

वे सब भावों के मूल हैं।

जब तू अपने भावों में भी लिप्त नहीं रहती,

बस ‘हो’ जाती है...

तब तू भी भावातीत हो जाती है।

और तब — तुझमें वही उतरता है।”

मैंने उनकी आँखों में देखा।

वहाँ कोई भावना नहीं थी —

पर वहाँ सबकुछ था।

वह मौन भी बोल रहा था।

मैंने अपना सिर उनके चरणों में रख दिया।

शब्द वहीं रुक गए, और प्रेम आगे बढ़ गया...

अध्याय 27
ईश्वर की परीक्षा — क्यों आता है जीवन में दुःख?

(बाबा अपने बिस्तर पर चुपचाप लेटे थे।

मैंने रोज़ की तरह उन्हें वीडियो कॉल किया।

पर आज बाबा ज़रा शांत थे।

मैंने धीरे से पूछा —)

"बाबा... एक बात कहूँ?"

"हाँ बेटा," बाबा बोले, "बोल..."

"बाबा, जब हम भगवान से प्रेम करते हैं,

उनकी भक्ति करते हैं,

तो फिर इतना दुःख क्यों आता है जीवन में?

कभी लगता है, सब कुछ होते हुए भी

कुछ खाली है...

कभी तो ऐसा लगता है कि ईश्वर सुन ही नहीं रहे।"

बाबा कुछ क्षण मौन रहे, फिर बोले:

"बेटा, दुःख जब आता है न —

तो वो सज़ा नहीं होता।

वो तेरे पुराने पापों को काटता है।

जैसे काँटों से भरा कोई खेत,

जिसमें बोने से पहले कुदाल चलाना ज़रूरी होता है।”

मैं चुप रही। बाबा ने अपनी आवाज़ में हलकी नमी लाकर कहा:

“दुःख आत्मा को जगाता है।

जो केवल सुख में जीता है,

वो ईश्वर को बहुत देर से पहचानता है।

लेकिन जो दुःख में रोता है,

वो सबसे पहले पुकारता है —

‘हे प्रभु, अब तू ही है।’”

मैंने पूछा, “बाबा, लेकिन क्या दुःख का कोई अंत नहीं है?”

बाबा बोले:

“जब तू जान लेगी कि दुःख भी

तेरे ही कल्याण के लिए आया है —

तब तू उससे भागेगी नहीं,

उसे गले लगाएगी।

और वही दिन तेरे जीवन का मोक्ष बन जाएगा।”

“ईश्वर कभी अपने भक्त को नहीं छोड़ते —

कभी नहीं।

लेकिन कभी-कभी भक्त को

अपने ही बोए हुए बीज काटने होते हैं।

वो कटाई ही साधना है।”

उस दिन बाबा की आँखें चमक रही थीं —

जैसे वे मेरा दुःख नहीं देख रहे थे,
बल्कि उससे परे मेरा प्रकाश देख रहे थे।
और मैंने पहली बार महसूस किया —
कि शायद मेरा दुःख
ईश्वर की एक चिट्ठी है,
जो कह रही है:
'बेटी, और पास आ जा...'

अध्याय 28

विरह की अग्नि, प्रेम का परम रूप

रात्रि की नीरवता में जब सब सो जाते हैं,

तब मेरे भीतर एक आग जाग जाती है —

वो आग जिसे शब्द नहीं कह सकते,

जिसे केवल प्रेम की आँखें पहचान सकती हैं।

यह विरह है —

न केवल बाबा से दूर होने का,

बल्कि उस परमात्मा से मिलन की चिर प्रतीक्षा का

जो हर क्षण भीतर पुकारता है:

“मैं यहीं हूँ... फिर भी तू मुझसे दूर क्यों है?”

मैं बाबा से कहती हूँ,

“मुझे भारत बुला लो... मैं नहीं रह सकती।

मेरी आत्मा आपके पास है,

और शरीर यहाँ बंधा है।”

पर बाबा शांत रहते हैं,

केवल इतना कहते हैं —

“बेटी, ये तुम्हारी परीक्षा है।

सोने को अग्नि में ही तपाया जाता है।”

उनकी आँखों में आँसू होते हैं —

पर शब्द मौन रहते हैं।

और मैं समझ जाती हूँ —

कि यह विरह केवल दूरी नहीं,

यह एक आंतरिक साधना है,

जहाँ आत्मा अपने सारे मोह, अपेक्षाएँ,

यहाँ तक कि अपने ही प्रेम को भी

एक अग्नि में जला देती है।

विरह में कुछ टूटता नहीं —

बल्कि कुछ और अधिक निर्मल बनता है।

जैसे राख के नीचे छुपी हुई आग —

जो बाहर से शांत दिखती है,

लेकिन भीतर अब भी तप रही होती है।

कभी-कभी लगता है,

ईश्वर का सबसे निकटतम रूप 'मिलन' नहीं, 'विरह' है।

क्योंकि मिलन में सुख है —

लेकिन विरह में समर्पण की चरम परिणति।

मैं अब बाबा से हर दिन बात नहीं कर पाती।

घर में कोई बात नहीं समझता,

संसार के सुख पास हैं,

लेकिन आत्मा जैसे कोई और भूख रखती है।

और अब मैं इस विरह को भी अपना प्रिय बना चुकी हूँ।

क्योंकि अब जान गई हूँ —

कि जब प्रेम इतना गहरा हो जाए

कि वह मिलन की मांग भी छोड़ दे,

तब वही प्रेम

विरह की अग्नि में तपकर

परमात्मा बन जाता है।

अब मुझे शिकायत नहीं...

केवल प्रतीक्षा है —

उस मौन दृष्टि की,

जिसमें मैं सबकुछ भूलकर

फिर से बाबा के चरणों में बैठ सकूं।

अध्याय 29
कलियुग — जहाँ देवता भी जन्म की इच्छा करें

(सुबह की हल्की धूप बाबा की कुटिया में आ रही थी। नीम के पत्तों की छाया ज़मीन पर नाच रही थी।

मैं बाबा के पास बैठी थी, और मन में एक अजीब सा प्रश्न कुलबुला रहा था।)

मैंने पूछा:

"बाबा, आपने एक दिन कहा था — 'कलियुग में जन्म लेना सौभाग्य है'...

पर ये तो पापों का युग है ना?

जहाँ लोग झूठ बोलते हैं, धोखा देते हैं, भक्ति कम है —

तो इसमें जन्म लेना कैसे वरदान हो गया?"

बाबा मुस्कराए, चाय की कटोरी मुझे थमाते हुए बोले:

"बेटी, इसी प्रश्न में बहुत बड़ा रहस्य छिपा है।

यही कलियुग, जो बाहर से अंधकारमय लगता है —

वही भीतर से परम कृपा का द्वार है।"

"कैसे बाबा?"

बाबा बोले:

“सत्ययुग, त्रेता और द्वापर — इन युगों में तप करना होता था हज़ारों सालों तक।

भक्ति बहुत कठिन थी — नियम इतने कठोर थे कि मनुष्य निभा ही न पाए।

पर कलियुग की एक विशेषता है — यहाँ केवल नाम जप से मोक्ष मिल सकता है।”

“कलियुग में ईश्वर ने एक नया रास्ता खोला है — ‘भाव से जो पुकारे, वो पास आ जाता है।’

ना विधि चाहिए, ना वेदों का ज्ञान,

बस ह्रदय की सच्ची पुकार — वही पर्याप्त है।”

“तो क्या देवता भी कलियुग में आना चाहते हैं?”

बाबा हँस दिए।

“हाँ बिटिया, शास्त्रों में लिखा है —

देवता भी तरसते हैं कलियुग में जन्म लेने को।

क्योंकि यहाँ केवल एक ही जीवन में,

ईश्वर को पाया जा सकता है —

अगर भाव सच्चा हो तो।”

“दूसरे युगों में भक्ति के बदले फल मिलता था।

पर कलियुग में तो बस एक आह निकलती है,

और भगवान दौड़े चले आते हैं।

यही तो उनका कलिकाल का वादा है।”

मैंने पूछा:

“बाबा, लेकिन कलियुग में तो पाप बहुत है?”

बाबा ने गहराई से देखा और बोले:

“हाँ, पाप है। पर क्षमा भी है।

और सबसे बड़ी बात — ईश्वर की करुणा अनंत है।

जैसे गंगा गंदे में भी बहती है,

वैसे ही प्रभु कलियुग के पतितों को भी उठा लेते हैं।”

“कलियुग में एक आँसू भी पर्याप्त है,

अगर वो सच्चे ह्रदय से निकला हो।

तू भाग्यशाली है — कि तुझे यह जीवन मिला,

इस युग में, जब ईश्वर सबसे निकट हैं।”

मैंने धीरे से सिर झुका दिया,

और पहली बार कलियुग को एक अवसर की तरह देखा —

पापों का नहीं,

बल्कि प्रेम और मोक्ष का युग।

अध्याय 30

जब बाबा को छोड़कर लौटना पड़ा — देहबुद्धि से गुरुतत्त्व तक

वो सुबह बाकी सब सुबहों से अलग थी। कमरे में सब कुछ वैसा ही था — वही पलंग, वही टेबल पर रखा पानी की बोतल, वही सुबह की धुप जो खिड़की से आती थी — लेकिन मन वैसा नहीं था।

आज मुझे अमेरिका लौटना था।

मैं बाबा के कमरे में पहुँची — वो बिस्तर पर ही बैठे थे, शायद जानते थे कि अब शब्दों से ज़्यादा मौन की ज़रूरत है।

मैं उनके पास ज़मीन पर बैठ गई — जैसे छोटी बच्ची माँ की गोद से अलग होने से पहले आखिरी बार लिपटना चाहती हो।

“बाबा...” बस इतना ही निकला। उसके बाद कुछ नहीं कह पाई। आँखों से बहता हुआ प्रेम, बोल बनकर गला पार ही नहीं कर पाया।

मैं सिर बाबा की गोदी में रखकर रोती रही — कई मिनटों तक, जैसे वो आँसू बिछड़ने से नहीं, बल्कि उस अपार प्रेम से बह रहे हों जो कहता है — ‘आपको छोड़ कर जाना मुझसे नहीं होता, बाबा...’

बाबा ने कुछ नहीं कहा। बस मेरा सिर सहलाते रहे — बहुत धीरे से।

फिर बहुत शांति से बोले:

“बेटी, तू जा रही है — पर क्या तू जानती है, तू जा ही नहीं सकती?”

मैंने सिर उठाकर देखा — उनकी आँखों में वही मुस्कान थी जो माँ के आँचल से ज़्यादा ढाढ़स देती है।

“हम जब देह को गुरु मान लेते हैं, तो दूरी लगती है। पर जब गुरु को तत्व मानते हैं — तो कभी दूर नहीं होते।”

“अब तू देहबुद्धि छोड़ दे। मैं तुझसे दूर नहीं हूँ। जहाँ तू प्रेम से मौन हो — मैं वहीं हूँ।”

मैं कुछ नहीं कह पाई। पर भीतर कुछ हल्का हो रहा था — जैसे मैं बाबा को छोड़ नहीं रही, बल्कि उन्हीं में समा रही थी।

जब मैंने उनके चरणों को छुआ, तो पहली बार नहीं लगा कि मैं जा रही हूँ — बल्कि ऐसा लगा जैसे अब मैं वहीं जा रही हूँ, जहाँ वो पहले से हैं — मेरे भीतर।

“गुरु कोई स्थान नहीं, कोई देह नहीं — वह एक सतत अनुभूति है, एक चेतना। और जब वह भीतर उतर जाए — तो बिछड़ना असंभव हो जाता है।”

अध्याय 31

भक्त और भगवान का अंतर्मिलन — एक अनुभूति

“क्या वो क्षण आता है जब ईश्वर भीतर उतर आते हैं?”

ये अनुभव उस दिन नहीं घटा जब मैं बाबा की कुटिया में थी, न ही तब जब उन्होंने मुझे देखकर मुस्कराया, न ही तब जब मैंने कोई प्रश्न पूछा —

बल्कि ये अनुभव अमेरिका के एक छोटे से कमरे में घटा, जहाँ मैं अकेली थी — पर पहली बार अकेली नहीं थी।

दो दिन से कुछ बदल गया था।

बाहर सब कुछ वैसा ही था — वही दीवारें, वही खिड़की से आती हवा, वही चाय का प्याला। पर भीतर... जैसे कोई बिलकुल नया ठहर गया हो।

ना कोई ध्यान किया, ना कोई मंत्र जपा — बस यूँ ही बैठे-बैठे एक दिन अचानक लगा — “बाबा... अब कहीं बाहर नहीं हैं। वो तो यहीं हैं — मेरे भीतर।”

शरीर शांत था, मन भी। पर सबसे ज्यादा शांत थी वो तलाश, जो अब नहीं रही।

अब मैं बाबा को कॉल करने से पहले ही जान लेती हूँ — वो क्या कहेंगे। अब मैं उनके हँसने से पहले ही मुस्करा देती हूँ। अब उनकी मौन आँखें मेरे अंतर में बोलने लगी हैं।

ये अनुभव कोई ‘रोशनी’, ‘झटका’, या ‘माया भंग’ नहीं था। ये बस एक धीमा-धीमा उतरना था — जैसे पानी में कोई बूँद खुद को खो दे।

और उस खो जाने में ही, मैंने खुद को पा लिया।

अब बाबा को बाहर ढूँढने की ज़रूरत नहीं रही — क्योंकि अब वो अंदर बस गए हैं। अब जब मैं साँस लेती हूँ, लगता है जैसे वो साँस ले रहे हैं। और जब मैं मौन होती हूँ — वो बोलते हैं।

उस दिन कोई आरती नहीं हुई, कोई चरण-स्पर्श नहीं हुआ, कोई प्रश्न नहीं पूछा गया —

लेकिन शायद उसी दिन सच्ची पूजा हुई, और वही दिन था सच्चा उत्तर।

“भक्त और भगवान का मिलन कहीं बाहर नहीं होता — वो उस क्षण होता है जब खोज रुक जाए। और जब भीतर कोई धीरे से कह दे — ‘मैं यहीं हूँ... तू ही मैं हूँ।’”

अध्याय 32

भोजन में मन की शुद्धता — प्रे म से पकता प्रसाद

आज बाबा बहुत शांत थे। बिस्तर पर लेटे थे, आँखें मूँदी हुईं। कमरे में हल्की सी खामोशी थी — जैसे कोई अंदर से बोल रहा हो।

मैं रसोई में थी। आज भजिए बना रही थी — बाबा को कभी-कभी बहुत मन करे तभी खाते हैं। उनका मन क्या है, ये तो कोई नहीं जानता — लेकिन जब खाते हैं, तो उसमें भी कोई संकल्प, कोई प्रेम छिपा होता है।

बेसन घोला, थोड़ा अजवाइन, थोड़ा नमक, थोड़ी सी हींग। हरे धनिए की खुशबू में कुछ ऐसा था जो आँखों को भी भाता था।

मैं कुछ सोच नहीं रही थी — बस हाथ चल रहे थे, और भीतर शांति थी। जैसे कोई मौन पूजा हो रही हो।

कढ़ाही में एक-एक भजिया डलता गया। गोल, सुनहरा, एकसार। हर टुकड़े में मेरा मन था — और शायद मेरा मन ही नहीं, मेरा मौन भी।

जब प्लेट बाबा के पास रखी, उन्होंने बिना कुछ कहे एक भजिया उठाया। धीरे से मुँह में रखा। मैं कुछ भी नहीं बोली — बस देखती रही।

फिर कुछ क्षण बाद बाबा ने आँखें मूँद कर कहा:

“इसमें तू थी ही नहीं — बस प्रेम था।”

ये वाक्य मेरे भीतर बहुत देर तक गूंजता रहा। मैंने कोई प्रतिक्रिया नहीं दी। बस वहीं ज़मीन पर बैठ गई।

तब मुझे पहली बार लगा — भोजन सिर्फ स्वाद नहीं होता। भोजन उस समय की तस्वीर होता है, जब मन पूरी तरह शांत, सरल और समर्पित हो।

प्रेम से बना भोजन केवल खाना नहीं — वो किसी के भीतर उतरने वाली भावना है। और जब मन निर्मल हो, तो वही भावना प्रसाद बन जाती है।

अध्याय 33

गुरु के रूप-अरूप दर्शन — मेरी अंतर्यात्रा का प्रारंभ

उस दिन भी सब कुछ सामान्य ही था। मैं नींद से उठी, सिरहाने रखा जल पिया, और कुछ देर यूँ ही आँखें मूँदे लेटी रही। तभी भीतर कोई हलचल सी हुई। लगा जैसे कोई बहुत ही परिचित और स्नेही उपस्थिति पास है... बिलकुल पास।

आँखें खुलीं, पर कमरे में कोई नहीं था। पर मैं जानती थी — बाबा वहीं थे। ना केवल कमरे में, बल्कि मेरे आस-पास, मेरे बिस्तर के चारों ओर जैसे परिक्रमा कर रहे हों... चुपचाप... बिलकुल वैसे ही जैसे वो हमेशा बिना कुछ कहे भी सब कुछ कह जाते हैं।

कुछ पल बाद, अचानक ऐसा प्रतीत हुआ कि वो शिव बन गए हैं — सिर पर जटाएँ, त्रिपुण्ड ललाट पर, आँखों में एक गहरी, मौन अग्नि। मैं भयभीत नहीं थी। नहीं, वो भय नहीं था — वो था मौन का तेज, गुरु की मौन उपस्थिति। मैं मंत्रमुग्ध रह गई। एक पल में मुझे लगा — 'ये क्या कोई भ्रम है?' पर मन ने कहा — 'नहीं, ये भ्रम नहीं, ये दर्शन है।'

एक और बार, जब मैं उठी तो मुझे शीशे में अपनी ही परछाई में तीन चेहरे दिखे — जैसे मेरे पीछे एक दिव्य त्रिमूर्ति खड़ी हो। मैं? या मेरे भीतर कोई और? क्या बाबा स्वयं दत्तगुरु के रूप में मुझे मेरे ही रूप में दर्शन दे रहे थे?

उस क्षण भी डर नहीं था — बस शांति थी, गहराई थी, और एक बहुत कोमल स्पर्श जैसे किसी ने आत्मा पर किया हो।

मैं कई बार सोचती रही — 'क्या मैं इन अनुभवों के योग्य हूँ? मुझमें तो क्रोध है, असंतुलन है, अवगुण हैं...' पर भीतर से कोई कहता रहा — 'तू योग्य हो या न हो, तू मेरी है — बस इतना काफी है।'

मैं यह नहीं कह रही कि मैंने कोई सिद्धि पा ली है। मैं कोई योगिनी नहीं, कोई ज्ञानी नहीं — बस एक शिष्या हूँ, जो अपने गुरु के प्रेम में प्रतिदिन कुछ नया खोती और पाती है।

बाबा से मिलने के बाद से बहुत कुछ बदल गया है। मेरे भीतर का कोई भाग अब और उपद्रव नहीं करता। वह शांति, वह मौन, वह साक्षी भाव — यह सब मैंने कभी पढ़ा तो था, पर अब मैं उसे जी रही हूँ।

और मैं यह क्यों लिख रही हूँ? क्योंकि यदि किसी और साधक को कभी ऐसा अनुभव हो — तो वह भ्रम में न पड़े। वह यह न माने कि यह उसकी कल्पना मात्र है। हो सकता है कि वही गुरु, वही परमात्मा, उसी के माध्यम से भी अपनी उपस्थिति जता रहे हों।

मैं केवल यह कहना चाहती हूँ — 'यह अनुभव मेरे नहीं हैं, ये तो बाबा की करुणा हैं। यदि कभी मेरे मन में यह आ जाये कि यह मेरी उपलब्धि है, तो हे बाबा, मुझसे वह अनुभव भी छीन लेना... पर आपकी कृपा से कभी दूर मत करना।'

अध्याय 34

मौन सेवा — जहाँ 'मैं' ना रहे, वहीं भक्ति का आरंभ

बाबा उस दिन बिस्तर पर टिके थे। तकिए से सिर टिकाए हुए, आँखे आधी मूँदी, पर होंठों पर वही चिर-परिचित मौन मुस्कान। मैंने अमेरिका से वीडियो कॉल किया — और धीरे से पूछा:

"बाबा... सेवा कब सच्ची मानी जाती है?"

बाबा ने बिना आँखें खोले जवाब दिया:

"जब सेवा में 'मैं' मिट जाए — तभी वो सच्ची होती है।"

मैंने थोड़ा और पूछा — "लेकिन बाबा... सेवा तो सब करते हैं, पर कई बार लगता है जैसे उसमे छुपा हुआ गर्व होता है... 'मैंने किया', 'मेरे बिना ये नहीं होता' — तो फिर कैसे जाने की सेवा में अहंकार नहीं घुसा?"

बाबा ने आँखें खोलीं, मुझे स्क्रीन पर देखा, और बहुत शांति से बोले:

"छत्रपति शिवाजी महाराज की एक कथा सुनी है?"

मैंने कहा — "नहीं पूरी नहीं..."

शिवाजी महाराज ने एक बार अपने गुरु समर्थ रामदास स्वामी को पत्र लिखा। उसमें लिखा — 'आपकी कृपा से बीजापुर का किला जीत लिया है। शिवाजी का राज्य फैल रहा है। यह सब आपके आशीर्वाद से ही संभव हो रहा है।'

रामदास स्वामी ने उत्तर में एक ही पंक्ति भेजी — 'शिवाजी का राज्य किसे चाहिए?'

ये पंक्ति, एक तीर बनकर छत्रपति शिवाजी महाराज के हृदय में उतरी। उन्होंने सब कुछ छोड़कर सीधे स्वामीजी के पास पहुँचे — और उनके चरणों में राजपत्र, मुकुट, और तलवार समर्पित कर दी। बोले — ‘अब से यह राज्य भी आपका, और मैं भी आपका।’

रामदास स्वामी ने उन्हें वह सब लौटा दिया और कहा — ‘अब तू राज्य के योग्य हुआ है, क्योंकि अब तू राजा नहीं रहा। अब तू सेवक बना है।’

फिर बाबा ने मेरी ओर देखा और बहुत कोमलता से बोले:

“सेवा वही, जहाँ तू न रहे। और जो रहे, वो बस गुरु का संकल्प हो। यही छत्रपति शिवाजी महाराज की सीख थी — यही तेरी भी हो सकती है।”

जब सेवा में ‘मैं’ भी लीन हो जाए, और श्रेय भी परमात्मा को दे दिया जाए — तभी वो सेवा मौन बनती है। और मौन सेवा ही सबसे ऊँची भक्ति है।

अध्याय 35
मैं तो बस एक कलम थी...

जब यह लेखन प्रारंभ हुआ, तब न मेरे पास कोई योजना थी, न कोई भाषा।

केवल कुछ भाव थे — जो कभी आँखों से अश्रु बनकर गिरते,

कभी मौन में बाबा के चरणों से जुड़ते।

न मैंने पुस्तक लिखने का निश्चय किया था,

न बाबा ने कभी कहा — “लिखो।”

फिर भी शब्द आते गए... और पृष्ठ भरते गए।

आज जब पीछे मुड़कर देखती हूँ,

तो यह स्पष्ट होता है कि मैंने कुछ नहीं किया।

हर प्रश्न — जैसे किसी और ने मुझसे पूछवाया हो।

हर उत्तर — जैसे बाबा और वह अनंत स्रोत एक ही हो गए हों,

और मैं केवल वह माध्यम बनी जिससे वह ध्वनि शब्द बन गई।

मैं तो बस एक माध्यम बनी —

जैसे तुलसीदास कहते हैं, “हौं तो तौं पाई न लखी।”

बाबा की प्रेरणा ही इस लेखन का बीज थी,

और उनका मौन ही इसकी आत्मा।

इस यात्रा में, कहीं मैं रोई, कहीं रुकी, कहीं रूठी —
पर अंत में जब देखा कि बाबा के मुख पर
एक चिरपरिचित मौन मुस्कान लौट आई है,
तो समझ गई —
यह ग्रंथ पूर्ण हो गया।

बाबा चैतन्य से भर उठे हैं —
शायद इसलिए नहीं कि मैंने लिखा,
बल्कि इसलिए कि उन्होंने लिखवाया।

यह पुस्तक उनकी है।
उनकी ही महिमा है।
और मैं?

मैं तो बस एक कलम थी...
जो उनके हाथों में थाम ली गई थी।

Afterword

|| गुरु वंदना ||

|| ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं ||

|| द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम् ||

|| एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतम् ||

|| भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ||

|| क्षमा प्रार्थना ||

यदि इस पुस्तक में कहीं भी अज्ञानवश कोई भूल हो गई हो,

कहीं कोई शब्द, उदाहरण या व्याख्या मेरे गुरुदेव की मर्यादा के अनुरूप न हो —

तो मैं सम्पूर्ण नम्रता और भक्ति से अपने गुरुदेव सच्चिदानंद महाराज से क्षमा याचना करती हूँ।

हे दत्तगुरु, आप ही साक्षी हैं कि यह लेखन मेरे निजी बोध का नहीं,

आपकी कृपा और प्रेरणा का ही प्रसाद है।

यदि कहीं कोई सीमा दिखे, तो उसे मेरी शिष्यता की कच्चाई समझा जाए—

और यदि कहीं रस, भक्ति या गूढ़ता दिखे, तो वह आप ही का प्रतिफल है।

आप मेरे जीवन के परम सत्य हैं।

|| ॐ श्री गुरुदेव दत्त ||

लेखिका से जुड़ें (यदि इच्छा हो):-

यदि आप इस पुस्तक के भावों से जुड़ पाए हों,

और इस मौन संवाद को आगे सुनना चाहें —

तो मेरी विनम्र उपस्थिति इस माध्यम से भी सुलभ है:

YouTube चैनल — “Antarguruh”

https://www.youtube.com/@antarguruh